Chap-2

द्वितीय अध्याय

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और वह समाज के कटकर नहीं रह सकता है। मानव मन विचित्र है, उसकी जन्मगत और परिस्थितियों वश अलग-अलग मनोवृत्तियों और स्वभावों के बारे में हम भली-भाँति जानते हैं। कोई बालक जन्म से ही शांत प्रकृति का होता है, और कोई उद्दंड और शरारती।कोई व्यक्ति आस-पड़ोस में सबसे मिल-जुलकर रहता है तो कोई अपने में ही खोया अंतर्मुखी एवं स्वकेन्द्रित किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे कभी न कभी किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता न पडे। बालक जन्म लेता है तबसे मृत्युपर्यंत उसे जाने कितने स्वजनों, नाते-रिश्तेदारों, विद्याभ्यास के क्रम में शिक्षकों, सहपाठियों, व्यवसाय-नौकरी करते समय अनेक सामाजिकों से उसका सम्पर्क होता है - क्रमशः वह ज्ञानवृद्ध होता जाता है, जीवन जीने की कला का निष्णात हो जाता है, और कई बार सफलता-असफलता की आंखमिचौली में वह भवसागर पार कर जाता है। जीवन की गिनी-चुनी साँसों को पूरा करने की यात्रा के दौरान उसे परिवार से लेकर अन्य अनेक संस्थाओं का शरणागत बनना पड़ता है। समाज में एक व्यवस्था बनाए रखने के लिए हमारे ऋषि-मुनियों, विचारकों ने छोटी-बड़ी अनेक सामाजिक संस्थाओं का गठन गहन चिन्तन के उपरांत किया, जिनमें समयानुसार परिवर्तन भी किए जाते रहे हैं।

साहित्य और समाज एक सिक्के के दो पहलू हैं। सामाजिक क्रिया-कलापों और परिवर्तनों का साक्षी साहित्य है। जो समाज को सही दिशा दिखाने का कार्य करता है, इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा गया है, क्योंकि किसी भी काल के साहित्य के अध्ययन से हमें कालगत विशेषताओं, परिवर्तनों और अन्य कई उपयोगी संदर्भ प्राप्त होते हैं। इसीलिए तो साहित्य और समाज को अन्योन्याश्रित माना गया है। किसी भी काल के सामाजिक वातावरण को समझने, जानने के लिए हमें तत्कालीन साहित्य से ही सहायता प्राप्त हो सकती है। वस्तुतः तत्कालीन समाज में व्याप्त रीति-नीतियों का वास्तविक चित्र साहित्य में ही उपलब्ध होता है। वैसे, तो किसी भी काल के समाज में परम्परा और उनके परिवर्तनों का सिलसिला चलता रहता है, फिर भी सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक वातावरण का असर इन परम्पराओं और परिवर्तनों पर सबसे ज्यादा पड़ता है। प्रत्येक साहित्यिक रचना अपने समय की विशेष परिस्थितियों की उपज होती है, और उसमें परम्परा तथा परिवर्तनों का अंश भी समाहित रहता है। हमारी परम्परा अक्षुण्ण होकर आधुनिक काल में ज्यों की त्यों विद्यमान है, और प्राचीनता का अवलोकन आधुनिकता के लिए परम आवश्यक भी है। इन परम्पराओं और परिवर्तनों पर सबसे ज्यादा असर शासकीय प्रभाव (राजनैतिक प्रभाव) का होता है, क्योंकि तत्कालीन शासन व्यवस्था का पूर्णतः व्यापक प्रभाव समाज पर पड़ता है। मध्ययुगीन सामाजिक गठन में भी तत्कालीन स्थितियों का प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है, और जहाँ साहित्य में समाज प्रतिबिम्बित होता है वहीं साहित्य तत्कालीन शासकों के प्रभाव से भी मुक्त नहीं रह पाता। इतना ही नहीं, कई भविष्यदृष्टा, दिव्यचक्षु समन्वित विचक्षण, मनीषी साहित्यकार अपने समय में दिग्भ्रमित समाज का दिशा-निर्देश भी अपने साहित्य द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य और समाज एक-दूसरे से प्रभावित होकर अपने लिए सुगम मार्गों का निर्माण करते हैं। भारत में समाज को सुसंगठित और सुव्यवस्थित रखने के लिए हमारे ऋषि-मुनियोंने जो सामाजिक व्यवस्था निर्मित की थी, उसके परिप्रेक्ष्य में गुजरात का मध्यकालीन समाज किस प्रकार का था, और वह समाज गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुआ है - उस पर सविस्तार दृष्टिपात करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

(अ) आधारभूत ढाँचा :

i) वर्ण-व्यवस्था : भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था पर यदि बहुत प्राचीन काल से दृष्टिपात किया जाए तो वहाँ उसमें बार-बार आधार परिवर्तन होता रहा है। किसी भी समाज में एक व्यवस्था व अनुशासन बनाए रखने के लिए तथा उसकी एक विशिष्ट पहचान बनाए रखने के लिए उसका एक वर्गीकरण स्थापित करना आवश्यक होता है। भारतवर्ष में भी यह हुआ और भारतीय संस्कृति की दूरदर्शिता अथवा उदारता कही जाएगी कि उसमें बार-बार परिवर्तन करके उसके संशोधन का प्रयास भी किया गया, किन्तु बाहर से हुए आक्रमणों, विभिन्न संस्कृतियों के संक्रमण और मानवमन की अपना अस्तित्व व पहचान बनाए रखने की दुर्बलता के परिणामस्वरुप यह जाति व्यवस्था जटिलतर होती गई।

प्रारम्भ में जाति-विभाग समुदायों के वर्ण (रंग) के अनुसार कुछ समय तक चला।[1] कालान्तर में काले-गोरे के निकट सम्पर्क से रंगभेद समाप्त होने लगा तथा आचार-विचार और संस्कृति की दृष्टि से भी काले और गोरों की एकता दिखलाई देने लगी। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति की जाति उसकी योग्यता और कर्म के अनुसार निर्धारित होने लगी। जाति की यह व्यवस्था वैज्ञानिक थी और भारत में काफी समय तक मान्य रही। उपनिषदकालीन भारतीय समाज अधिक रुढ़िग्रस्त नहीं था। यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का निर्धारण हो चुका था और केवल ब्राह्मण व क्षत्रिय ही अधिक विद्या ग्रहण कर पाते थे, फिर भी तत्वज्ञानी और विद्याव्यसनी लोगों को पर्याप्त सम्मान दिया जाता था।

अतः बार-बार के आधार परिवर्तन के बावजूद मध्यकाल तक आते-आते यह व्यवस्था जन्म के आधार पर आधृत हो गई थी। वैसे तो भारतीय चतुर्वर्ण व्यवस्था का आरम्भ कब से हुआ इस विषय में विभिन्न विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किन्तु यह बात भी इतनी सच है कि इसकी प्राचीनता के बारे में किसी को भी सन्देह नहीं है। प्राचीन काल से ही ब्राह्मण धर्माचरण के क्षत्रिय राजनीति और प्रजा-रक्षण के, वैश्य व्यापार-संचालन और समाज की आर्थिक व्यवस्था के तथा

---

1. भारतीय संस्कृति का उत्थान - डॉ. रामजी उपाध्याय - पृ. 160

शूद्र, इन तीनों वर्गों को सेवा-भार के लिए उत्तरदायी माने जाते थे। इस विभाजन के बारे में डॉ. सावित्री चन्द्र का मानना है कि - "भारतीय वर्ण-व्यवस्था के मूल में श्रम-विभाजन और आर्य-अनार्यों की प्रतिद्वन्दिता दोनों निहित हैं।"[1] गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में जहाँ एक ओर कुछ कवियों ने इस व्यवस्था का समर्थन किया है, वहीं दूसरी ओर संत कवियों ने इस प्रकार की व्यवस्था के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया है। यहाँ यह कह देना अर्थसंगत है कि अधिकांश सन्त कवियों का सम्बन्ध निम्न जातियों से था, और उन्होंने अपने अनुभव सिद्ध सत्य के आधार पर अपनी रचनाओं में इसके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया है।

मध्यकालीन रचना 'लखपतिजससिंधु' के रचनाकार कुँअर कुशल ने अपने अन्य लघु ग्रन्थ 'सिंहटपनिसानी' में भुजनगर में चार वर्णों के लोगों के रहने का वर्णन किया है -

तह बसत वरन जु च्यार राजे सकल नृप सुषदाय ।
हुन् सकल नृप सुषदाय क्षत्री, विपृ, वैस्य वषानि ।
सुद्र गन धन सहित सुभ मन, अचल उर में आनि ॥ [2]

कवि ने इन चारों वर्णों के लोगों के अतिरिक्त अन्य कई जातियों का वर्णन किया है, जो वहाँ निवास करती थी।[3] ये सभी ज़ातियाँ और चारों वर्णों के लोग पारस्परिक सौमनस्य और प्रसन्नता के साथ ऐक्य-भाव से निवास करते थे, जो मन से भी शुद्ध थे। यह बात कहकर तत्कालीन समय की सभी वर्णों की एकता को दर्शाते हुए शांतिमय वातावरण का चित्रण किया गया है।

तत्कालीन संत कवियों ने जन्म के आधार पर वर्ण-विभाजन और सामाजिक गौरव के निर्धारण के विचार का खंडन किया है, तथा ऐसे सम्बन्धों को खोखला बताते हुए वर्णों एवं जातियों को कल्पना की उपज माना है, और समाज से इस प्रकार के भेदभाव को मिटाने की बात कही है-

मेरा नहीं रे कोई सगा साथी, मेरा नहीं रे कोई ।
खट दरसन वरणाश्रम चारों, ये तो कल्पित जाति ।
..... दूरी करो सब जाति ॥ [4]

---

1. समाज और संस्कृति - पृ. 03
2. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल (भूमिका से)
3. वही- पृ. X, Xi
4. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 271

तथा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जो ज्ञानी हैं, वही साधु है, सामाजिकों को चाहिए कि वे सच्चे महात्माओं, साधुओं का आदर सत्कार करें, परन्तु वेषधारियों से सावधान रहें।[1] उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया और सच्चे साधक को इससे ऊपर उठने का उपदेश दिया। अखा कहते हैं कि राम को खोजते नहीं और वर्णाश्रम का भार उठाते हैं, जैसे हालर नामक पक्षी लकड़ी का भार बेकार ही ढोता रहता है-

वर्णाश्रम का भार वहें रंच न खोजे राम ।

जौ हालर की लकरी भार बहत बे काम ।[2]

वस्तुतः यह वर्ण-व्यवस्था परम्परा से चली आ रही व्यवस्था नहीं थी। मध्यकाल तक आते-आते जाति-व्यवस्था में बदल गई थी, अर्थात् उसका परिवर्तित या संशोधित रुप था, जिसमें स्वीकृत कार्य-विभाजन मूलतः वही रहा जो पहले था। लेकिन संत कवियों ने किसी भी वर्ण को निम्न, हेय या त्याज्य नहीं माना।

मध्यकालीन संतकवि अखा की रचना में वर्णाश्रम व्यवस्था सम्बन्धित चर्चा प्रचुर मात्रा में मिलती है। उन्होंने जाति पाँति का विरोध करते हुए उसे अनावश्यक माना है -

ऊँच वर्ण नेड़े नहीं नीच वर्ण नोहे दूर ।

ज्यों नर लम्बा और ठीगना कोई छुवत नहीं सूर ।।[3]

ऊँच कुँ भूषण गण्या दूषण दीन नीच ।

राम न पावे सो अखा जे कल्या भ्रम की कीच ।।[4]

वस्तुतः अखा ने इस प्रकार की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था एवम् रुढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रकट किया, और ऊँच-नीच, जाति-पाँति, भेद-भाव की संकीर्ण दिवारो को ढहाकर मानवतावाद का सन्देश दिया, क्योंकि अखा जी के समय में यह प्रथा अत्यन्त दृढ़ हो चुकी थी -

---

1. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह, अधम-अंग-17
2. वही-देह दरसी को अंग-10
3. वही-समदृष्टि अंग-2
4. वही-समदृष्टि अंग-3

जाति ऊँची हरि ना मिले अनुभव ऊँच हरि भाये ।

जौं लौह में मुँख देखिये अखा कंचन में न दिखाये ॥[1]

देह और चाम को लेकर मनुष्य और मनुष्य के बीच एक गहरी भेदक रेखा खिंचती चली जा रही थी।

वर्णाश्रम जिन देखिया सो क्यों देखे राम ।

अखा हरी कैसे मिले जिन देख्या देह चाम ॥ [2]

सन्त कवि करुणासागरजी ने भी ऊँच-नीच का विरोध किया है, वह कहते हैं कि केवल उच्चकुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई ऊँचा, महान् नहीं कहला सकता, और तथाकथित निम्नकुल में जन्मते ही कोई नीचा भी नहीं हो जाता है। उसके लिए तो व्यक्ति का ज्ञान और विवेक ही मूल-आधार होना चाहिए-

"ऊँचे कुल नहि ऊँच कहावत, नीचे नीच न कीजै।"[3]

प्राचीन समय में ऋषि-मुनियों ने जिस वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा सारे समाज की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा था, इसकी एक हद निश्चित थी, वहाँ स्वतंत्रता का अर्थ उनके लिए उश्रृंखलता नहीं था, जो मध्यकाल में सर्वत्र दिखाई पड़ती थी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में क्रमिक श्रेष्ठता है, और उसमें भी ब्राह्मण और क्षत्रियों को समाज में अन्य दो से आदर-सत्कार एवं अधिकार सम्मान भी अधिक मिलता था, यहीं से सामाजिक कलह की स्थिति का निर्माण होता है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की सृष्टि करता है, इस प्रकार के वातावरण को देखकर ही तत्कालीन संत कवियों ने इसके प्रति चिंता प्रकट की है, वह समाज में फैले इस प्रकार के कलह से असहमत होकर अपनी आंतरिक व्यथा से भरकर कह उठते हैं -

स्थावर जंगम जाति की खानी कहिए चार,

एक एक से खानी में, जाति भेद अपार ॥[4]

---

1. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह-अनुभव को अंग-1
2. वही- प्रतीत को अंग-1,2
3. गुजरात की हिन्दी संत परंपरा की भूमिका में करुणासागर जी की हिन्दी रचनाओं का अनुशीलन- डॉ. जसवंत व्यास-अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृ. 224
4. छोटमनी वाणी (भाग-2)-संपा. भिक्षु अखंडानंद-पृ. 256

उनको विश्वास था, कि वर्णों में न तो कोई बड़ा है, न तो कोई छोटा। सभी समान स्थान के अधिकारी हैं।

मध्यकाल के महान संत दादू ने भी इस प्रकार के भेदभाव के प्रति विरोध प्रदर्शित करते हुए समता एवं एकता और विश्वबंधुत्व की बात कही है-

आदि संत सब एक हैं, दादू सहज समाई। [1]

दादू ने बडी सरलता के साथ मनुष्य को ऊँच-नीच के भाव को छोड़कर समता के धरातल पर लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने बहुत ही विनम्र भाव से ऊँच-नीच विधान के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं -

दादू संमि करि देषिए कुंजर कीट समान ।
दादू, दुबध्या दूर करि, तजि आपा अभिमान । [2]

उनका स्पष्ट विचार था कि सबको भाई-बन्धु समझा जाए, और एक ही परिवार के सदस्य के रुप में माना जाए, इससे मानव मात्र में आत्मीयता का विकास होगा, और विश्वबन्धुत्व के द्वारा भेदभाव रहित समाज का निर्माण हो सकेगा -

आतम भाई जीव, सब, येक पेट परिवार ।
दादू मूल विचारिए, तो दूजा कोण गंवार ।। [3]

दादू मूलतः परम्परा से चली आ रही चतुर्वर्ण व्यवस्था को अपरिहार्य रुप से स्वीकार करने के बावजूद भी कहीं भी उसका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं करते -

दादू सूना पट सोधी नही, पंडित ब्रह्मा पूत ।
आगम निगम सब कथै, घर में नाचे भूत ।। [4]

इसीलिए दादू की रचनाओं में सर्वत्र मानव-आत्म की मूल एकता का भाव प्रदर्शित होता है, और किसी प्रकार के भेद को उन्होंने व्यर्थ बताया है -

दादू जब पूरण ब्रम्ह विचारिए, तब सकल आतम एक ।
काया के गुण देषिए, तौ नाना वरण अनेक ।। [5]

---

1. दादूदयाल ग्रन्थावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, दया नृबैरता को अंग-24
2. वही-26
3. वही-19
4. वही-साचको अंग-84
5. वही-पारिष को अंग-16

इसी मानवतावादी सिद्धांत के धरातल पर भेदभाव के प्रति विरोध प्रकट करते हुए कहते हैं, कि अछूत का समाज में वह स्थान है, जो मुँह में स्थित जिह्वा और दाँत का होता है। समाज में इसी अस्थि मज्जा से बने अछूतों के शरीरों से छूत की जाती है, जबकि मूँह के अस्थि-मज्जा के बने इन अंगों से छूत नहीं होती।[1] दादू इस मानव-एकता पर ही बल नहीं देते, वरन् जाति भ्रष्टों के प्रायश्चित द्वारा शुद्धिकरण को भी असंगत ठहराते हैं। साँप निकल गया, लकीर पीटने से क्या लाभ? वस्तुतः जाति-भेद उनके अनुसार सामाजिक भ्राँति ही है।

इसी परम्परा के आगे बढ़ते हुए गुजरात के मध्यकालीन जैन कवियों ने भी वर्ण-जाति की ऊँच-नीच की मान्यता को व्यर्थ घोषित किया है। जैन कवि 'शुभचन्द्र' के अनुसार सभी जीवों की आत्माएँ समान हैं। आत्मा में कभी बाह्य शूद्रत्व प्रवेश नहीं कर सकता, कवि कहते हैं-

उच्च-नीच नीति अप्पा हुवि, कर्म कलंक तणो की तु सोइ।

बंभण, क्षत्रिय, वैश्य न शुद्र, अप्पा राजा नवि होय शुद्र ।।[2]

अन्य महान कवि 'यशोविजय' ने भी समाज में सभी जातियों को समान बताते हुए निम्न जाति के लिए भी सिद्धी का मार्ग खुला माना है।[3]

गुजरात के मध्यकाल के अंतिम महानतम कवि दयाराम ने भी जाति-व्यवस्था को अस्वीकार किया है। वे मानव मात्र में वर्णों के ऊपरी आवरण को भेदकर उस चिरंतन आत्म तत्व से साक्षात्कार की बात करते हैं, जो पूर्णतः अधिकारी हैं, वे समग्र प्राणी मात्र में एक ही अखंड चेतना का आभास पाते हैं, और जाति एवं वर्ण को समाज निर्मित बताते हैं, जिसका कोई महत्व नहीं है-

जाती बरन विचित्र पै सब घट इक घनश्याम,

हरि अरुन सित पित असित, सब पर छायौ स्याम ।[4]

कर्मवादी दर्शन की मान्यता के अनुसार पूर्वजन्म का कर्मफल भोगने के लिए ही किसी व्यक्ति को शूद्र या ब्राह्मण बनकर इस भव में आना पड़ता है, अतः संचित कर्म का क्षय

---

1. दादूदयाल ग्रन्थावली -संपा. परशुराम चतुर्वेदी - मन को अंग-87
2. जैन गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता - डॉ. हरिप्रसाद शुकल, पृ 232-33 से उद्धृत
3. वही - पृ . 233 से उद्धृत
4. दयाराम कृत काव्य संग्रह, नर्मदाशंकर लालशंकर, पृ. 381

न हो जाए, तब तक उनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। कर्म क्षय का एकमात्र उपाय है कर्मों का भोगना। इस प्रकार जाति व्यवस्था का सम्बन्ध हिन्दू धर्म और दर्शन के साथ है। अतः धार्मिक समाज से इसमें परिवर्तन की आशा नहिवत् है, दयाराम वर्ण व्यवस्था की दार्शनिक आधारशीला को स्वीकार करते हैं, किन्तु यह स्वीकार नहीं करते कि कर्म फल एक मात्र भोगने से ही क्षीण होते हैं।अपितु उनका विश्वास है कि भगवान कृष्ण सर्व समर्थ हैं। "वे कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम हैं।" उनके नाम में इतनी शक्ति है कि कर्मों का प्रभाव अपने आप मिट जाता है -

कर्म रेख कयोंहु न मिटे, नाम मिटाई देत।

हरदि की जरदि न रहे, चूना रहे न रेत ॥ [1]

इसीलिए वह विश्वासपूर्वक बल देकर कहते हैं. कि-

अधम जाति तहुं पूज्य बड, जो भक्ती गोपाल ॥[2]

उपर्युक्त कथन के समर्थन के लिए उन्होंने समाज में निम्न समझी जानेवाली जातियों के गोपाल भक्तों की एक लम्बी नामावलि प्रस्तुत की है, जिससे उनका तात्पर्य है कि कृष्ण के प्रति शुद्ध समर्पण की भावना ने ही इनको ब्राह्मणों से भी अधिक श्रेष्ठ बना दिया है-

शबरी, भिल्ल, रईदास चमार किए विप्राधिक;[3]

अर्थात् आशय यह है कि उच्चकुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई व्यक्ति ऊँचा नहीं बन जाता। किसी कुल में जन्म पा लेना तो एक आकस्मिक बात है।ऊँचे कुल में जन्म लेने के कारण व्यक्ति में किसी प्रकार के दैवीय गुण नहीं आ जाते, जबकि दयाराम के मत से कुलीनों में भी कठोर एवं नीच व्यक्तियों के दर्शन होते हैं-

कुलीन मयहु कठोरता छांडत नाहिन नीच ॥ [4]

दयाराम के मत से मनुष्य मात्र की सच्ची ऊँचाई जातिगत उच्चता में नहीं भक्तिमयता में है। भक्त चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो, श्रेष्ठ है। भक्ति के क्षेत्र में सब समान हैं। वैष्णवों इस प्रकार के भेदभावी को अधर्मी कहकर उसके दर्शन या नाम लेने से भी पाप लगने की बात करते हैं-

---

1. दयाराम काव्य मणिमाला(भाग-6) - संपा. नारायणदास शाह - पृ. 246
2. वही - पृ. 237
3. दयाराम काव्य सुधा - संपा. प्राणशंकर व्यास - रसिक रंजन से पृ. 189
4. दयाराम कृत काव्य संग्रह - संपा. नर्मदाशंकर लालशंकर - पृ. 418

हरि अचॉ शिला धातु गुरु विष्णेव नर बुद्धि

वैष्णव में जाति भाव सो अधर्म ईश है।

X X X X X X

कहे दयाराम बाको नाम लेत पाप लागे

ऐसी बुद्धि वारे जीव सदा नरकीश हैं।[1]

तत्कालीन समय में निम्न जातियों के धर्मावलम्बियों को वेद और गायत्री मंत्र पढ़ने का अधिकार न दिये जाने पर दयाराम को आश्चर्य होता है, क्योंकि उसमें तो हरिओह्म की महिमा का ही वर्णन है। इसके बिना पाठ निष्फल है। अतः वेद भी प्रकारान्तर से कृष्ण की महिमा का ही समर्थन करते हैं, और कृष्ण भक्ति के लिए वर्ण, जाति का कोई बन्धन नहीं है। तो इस प्रकार का प्रतिबंध लगाना तो उनकी दृष्टि में मूर्खता ही है -

तीन बरन गुरु बिप्र, तेज गायत्री जाको,

सौ वंदत सन्यासी, प्रणव महामन्त्रहि ताको;

प्रणव सोहि ओंकार, वेद की आदि जानें,

हरिहि ओं नहिं पढे, पाठ श्रुति निष्फल मानो;

इहबदे वचन परिमान श्री कृष्ण नाम सर्वोपरी,

अधिकार सदा सब बरन को, विधि निबेध नाम न हरी।[2]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि विवेच्यकाल में जहाँ एक ओर राज्याश्रित कवियों ने समाज का संघटन अधिकांशत या परम्परागत चतुर्वर्ण में ही स्वीकार किया है, तो दूसरी ओर सन्त कवियों ने इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जातिभेद की मुक्त कंठ से आलोचना की है और समाज को समानता के धरातल पर स्थापित करने के प्रयास किये हैं। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को रुढिग्रस्त रुप में स्वीकार न करके अपने विचारों द्वारा उसे संशोधित किये जाने की भावना व्यक्त की है।

---

1. दयाराम काव्य सुधा - सं. प्राणशंकर व्यास, रसिक रंजन से - पृ. 180
2. वही - पृ. 180

HANSA MEHTA LIBRARY

<u>ब्राह्मण :</u> वर्णाश्रम के परम्परागत रुप के अनुसार ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। प्राचीन समय में समाज में इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था , जिसकी छाया हमें रामायण, महाभारत में देखने को मिल जाती है, किन्तु बौद्ध और जैन-धर्म के प्रभाव के समय इसमें गिरावट आयी। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में इनका महत्व पुनः बढ़ा हुआ देखा जा सकता है। कारण मौर्य साम्राज्य का निर्माता वास्तव में एक ब्राह्मण था, जो चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुजरात के मध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिए विप्र,[1] द्विज[2], दुज[3] आदि संज्ञाओं का प्रचलन था। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णों-त्रिवर्ण से उनका उच्च-स्थान सूचित करनेवाली संज्ञाओं में दुजदेव[4] तथा उन्हें भूतल के देव समझने की जनधारणा का प्रकाशन करने वाली भूदेव[5] आदि संज्ञाएँ प्रचलित थीं। अन्य रचनाओं में यत्र-तत्र वर्तमान समय में प्रचलित बामन[6], ब्राह्मण[7] जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

उनके जीवन और कार्य सम्बन्धित वर्णनों से फलित होता है कि, उनका जीवन बड़ा सात्विक होता था। वे वेदपाठ[8] (वैदिक मन्त्रों का पठन) करते थे तथा पूजा-पाठ[9] भी करते थे। उनका प्रमुख कार्य दान लेना[10], विद्या दान[11],ज्योतिष-शास्त्र[12] का विचार तथा विवाह[13] आदि

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर- 7/2
2. वही-26/16
3. वही-7/11
4. वही-6/28
5. लखपतिजससिंधु, संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, तरंग द्वितीय- 78
6. वही- (भूमिका से) पृ.-X
7. वही- त्रयोदश तरंग-101
   अक्षय रस - संपा.डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, भोरी भक्ति अंग-18, नींदक अंग-29
8. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-6/5,7/2,11/20,15/8,56/8,
   लखपतिजससिंधु-द्वितीय तरंग-78
9. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-7/2
10. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-6/28,7/10,8/4,11/22,15/27,38/25
    लखपतिजससिंधु-संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-79
11. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-8/3,4
    लखपतिजससिंधु-संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-78
12. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 6/6,7,8, -7/3
13. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, - 11/4,5, - 15/2,27

शुभ कार्य करवाना होता था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के अन्य कार्यों में शुभ मुहूर्त[1] निकालना तथा शुभ अवसरों पर आशीर्वाद देना[2] आदि का समावेश होता था। तदयुगीन रचनाओं में किए गये वर्णनों से स्पष्ट होता है कि उन्हें समाज में अत्यधिक सामाजिक महत्व प्राप्त था। राजा तथा प्रजा दोनों उनका सम्मान करते थे।[3] यहाँ तक कि ब्राह्मणों को देवता समझने की बात कही गयी है, और इसीलिए सृष्टि उनकी सेवा करती थी, क्योंकि ब्राह्मण के वश में मंत्र हैं, और मंत्र के वश में देवता हैं। इस प्रकार का उल्लेख किया गया है-

राजवंश वंश ब्रह्म को नहिं मारे, हम तो सुपन सत्य करि डारे ॥

द्विज मिलाय रुक्मिणी हरि दोई, द्विज सु दीन जानो मत कोई ॥

याते वचन सत्य द्विज मानो, दिज सु देव मानव जिन जानो ॥ [4]

'कौटिल्य' ने भी कहा है कि महामारी से बचने के लिए देवता तथा ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए। इन सब बातों से तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की सर्वोपरि महत्ता ही घोषित होती है-

हरिजन मिला हरि पाइए ब्राह्मण मिला संसार ।
जाकू जाकि खप आया सो तेसा करे उचार ॥ [5]

सामाजिक मान-पान के साथ-साथ आर्थिक समृद्धि भी उन्हें मिली हुई थीं। कुछेक ब्राह्मण तो अति समृद्ध और धनवान थे और राज्य शासन की ओर से उन्हें सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त थीं -

ता पुर में दुज रहत हैं, चतुरानन अभिधान ।
गृह हय गय फंदन अरथ, राजद्वार सन्मान। [6]

तो दूसरी तरफ गरीब ब्राह्मणों का पालन राज्यशासन की ओर से होता है-

दीन दुजन प्रतिपाल, [7]

---

1. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-35/5
2. वही-लहर - 81/10, - 83/24
3. वही-लहर - 7/11
4. वही - लहर - 26/16
5. अक्षय रस- संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह - नींदक अंग - 9
6. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-7/11
7. वही- लहर - 8/7

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों को किसी तरह की कमी नहीं थी। सामाजिक मान-पान के साथ-साथ आर्थिक समृद्धि भी उन्हें प्राप्त थी और जो आर्थिक दृष्टि से पीछड़े थे, उनका पालन-पोषण राज्य की ओर से होता था।

ब्राह्मणों का आदर-सम्मान होता था, यह एक निर्विवाद सत्य है, किन्तु मध्यकालीन संत कवियों ने इनके द्वारा प्रस्थापित कर्मकाण्डों का घोर विरोध किया है और तत्कालीन बाह्याडम्बरों का ठेकेदार माना है। कवि दादू का कहना है कि समाज में नाना प्रकार के नाम-वर्ण और जाति के भेदभाव के लिए यही लोग जवाबदार हैं -

दादू पांणी के बहु नांव धरि, नाना विधि की जाति ।
बोलणहार कोंण है, कहौ धौं कहा समाति ।।[1]

आए एकंकार सब, साँई दीप पढाई।
दादू न्यारा नांव धरि, भिंनि भिंनि है जाइ ।।[2]

इस प्रकार समाज में पनपते भेद-भरम का विरोध करते हुए दादू कहते हैं कि जिसमें ज्ञान, बुद्धि, विचारशीलता है वही सबसे ऊँचा है, यह बातें जिसमें नहीं हैं, वे मनुष्य पशु समान हैं-

मति बुधि ग्यांन विचार विन, माणस पसू समान।
समझाया समझे नहीं, दादू परम गियान ।।[3]

इसलिए उन्होंने तत्कालीन समाज में बन बैठे पंडितों को खाली शिर का कहा है-

दादू पंडित निबरे नांव विन, झूठे कथै गियान।
बैठे सिर षालीं करै, पंडित वेद पुरांन ।। [4]

उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि जिसमें साधुता व्याप्त है, वही देव है, और ब्रह्म को पा सकता है। बाकी किसी भी वर्ण का हो, सब जीव भूत के समान हैं-

सब जीव प्राणी भूत है, साध मिलै तब देव ।
ब्रम्ह मिले तब ब्रम्ह है, दादू अलष अभेव ।।[5]

---

1. दादू दयाल ग्रंथावली - संपा.परशुराम चतुर्वेदी, साच को अंग-113
2. वही- दया नवैरता को अंग- 23
3. वही -पारिषी को अंग -17
4. वही-साच को अंग -86
5. वही-पारिषी को अंग -18

इससे स्पष्ट है कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ और हित के लिए समाज में जिस भेदभाव की नीति को अपना रखा था, सन्त कवियों ने इसका विरोध करते हुए जन्म के आधार पर वर्ण-विभाजन और सामाजिक गौरव के निर्धारण के विचार का खण्डन किया है तथा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जो ज्ञानी है वही साधु है, वही ब्राह्मण भी हो सकता है। सन्त कवियों के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का कर्मकण्ड और पूजा-पाठ व्राह्याचार मात्र रह गये थे। वास्तव में वे अपने वास्तविक उद्देश्य से दूर जा चुके थे। इस संदर्भ में डॉ. मदनगोपाल गुप्त का कथन उल्लेखनीय है कि "उन्होंने (सन्तों ने) वर्ण-व्यवस्था से संबंधित ब्राह्मण वर्ग की मूल भावना पर नहीं प्रत्युत् उसकी तत्कालीन विकृति को ही अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्यकाल में यद्यपि जनसाधारण में ब्राह्मणों का प्रतिष्ठित स्थान था, राज्य की ओर से भी उन्हें मान-सम्मान मिलता था, लेकिन ब्राह्मणों का नैतिक ह्रास हो गया था। वे अध्यात्म की ओर न झूक कर भौतिक सुखों की ओर उन्मुख हो रहे थे। उन्हें पूजा-पाठ से अधिक रुचि दान ग्रहण करने में रहती थी।

<u>क्षत्रिय :</u> ब्राह्मणों के बाद समाज में सर्वाधिक मान-सम्मान क्षत्रियों को ही प्राप्त होता था। ये अधिकतर शासन व्यवस्था से जुडे हुए थे। राज्य संचालन, प्रजा की रक्षा के लिए सेना का संगठन, और शत्रुओं का सामना करत-करते वीरगति को प्राप्त हो जाना ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य होता था। कोई भी क्षत्रिय युद्धक्षेत्र में पीठ दिखाना अत्यंत अपमाजनक मानता था। प्राचीन समय से ही उनकी शौर्य गाथाओं का वर्णन हम विभिन्न ग्रंथों में पाते हैं। मध्यकाल में भी ये उसी तरह बलवान और शक्तिशाली थे, किन्तु मिथ्याभिमान और परस्पर ईर्ष्या, द्वेष के कारण उनको मुसलमानों के समक्ष पराजय झेलनी पड़ी।

---

1. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति - पृ. 220

क्षत्रियों के लिए उनकी परम्परागत संज्ञा-क्षत्रिय[1] के समान ही रजपूत[2] शब्द का भी काफी प्रचलन था। अन्य शब्दों में उनके लिए ठाकुर[3] और खासकर कच्छ के क्षत्रिय शासकों के लिए राउ[4], महाराउ[5] संज्ञाएँ भी प्रचलित थीं, जो उनका शासन-संचालन से घनिष्ट सम्बन्ध सूचित करती है।

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के गौरवग्रंथ 'प्रवीणसागर' में क्षत्रियों का सम्बन्ध सूर्यवंशी[6] और चंद्रवंशीयों[7] से जोड़ा गया है। यहाँ परम्परागत वर्णन के अनुसार ही सूर्यवंशी और चंद्रवंशी जैसी संज्ञाएँ दी गयी हैं, क्योंकि एक स्थान पर राजकुमार रससागर का सम्बन्ध सोमवंशी[8] से जोड़ा गया है, जबकि रससागर के पिता राजा प्रदीप को चंद्रवंशी कहा गया है।

क्षत्रियों की बाह्याकृति का वर्णन 'लखपतिजससिंधु' में प्राप्त होता है। कवि कुँअरकुशल ने कच्छ के जाड़ेजा शासकों को सुदृढ शरीर के और कोमल स्वभाव के सामंत के रुप में चित्रत किया है-

साहसी सू सामंत सीम। भौरे सुभाउ भारत्थ भीम ॥[9]

अन्य एक वर्णन में राऊ देसलजी को बड़े तेज, शौर्यवान और महाराज लखपतिजी को मर्द (शक्तिशाली) की संज्ञा दी है।[10] जाड़ेजा वंश के नाम 'जाड़ेजा' की प्रतिष्ठा किस प्रकार हुई थी इसका उल्लेख 'कारा डुंगर कच्छजा' में इस प्रकार मिलता है "जाड़ेजा वंश का नाम समा सरदार जाडाने उसकी कोई संतान न होते हुए लाखा को दत्तक लिया था, और उसीने जाड़ा से वंश का नाम जाड़ेजा रखा था।"[11]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-9/14,-12/12, -13/22
2. वही- लहर - 8/9,
   लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - भूमिका से - x
3. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, प्रथम तरंग - 67
4. वही- प्रथम तरंग - 84,85,87,89
5. वही- प्रथम तरंग - 2,3
6. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-7/1
7. वही- लहर- 6/2
8. वही - लहर -13/22
9. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग - 13
10. वही - प्रथम तरंग - 102
11. कारा डुंगर कच्छजा-अनुवाद - वसंतराय पट्टणी, पृ.- 91

इनके वंशज प्रायः दिखने में अधिक कदावर, मजबूत शरीरवाले होते थे जिसके लिए उन्हें जाड़ेजा विरुद दिया गया -

याते जाड़ा अधिप कैं लाषौ लाष सयांन ।

विधि इहिं जाड़ेजा विरुद जान्यौ सकल जिहांन ॥[1]

'कारा डुंगर कच्छजा' में भी उन्हें दिखने में सुंदर, कदावर और दाढ़ी रखनेवाले बताया गया है।[2] क्षत्रियों की पहचान में मूँछों का स्थान अप्रतिम होता था और युद्ध के अवसर पर महाक्रोधित हो ये लोग अपनी मूँछ पर हाथ फेरते थे-

सुतरी पुकार नरनाह सुनि, धरिय कोपकर मुच्छ धरि ॥[3]

जहाँ तक क्षत्रियों में शिक्षा व्यवस्था का प्रश्न है, उनकी शिक्षा का मुख्य अंग शस्त्रास्त्र संचालन में नैपुण्य प्राप्त करना होता था-

बांक बनेंटी अरु पटा,
धनुविद्या सब साध ।[4]

शस्त्र-विद्या के साथ-साथ क्षत्रिय-कुमारों को विविध शास्त्रों की भी शिक्षा दी जाती थी। "प्रवीणसागर" में किये गये वर्णन के अनुसार कुमार रससागर को प्रथम अक्षर का ज्ञान होते ही गणितादि अंकों का अभ्यास, पिंगलशास्त्र, व्याकरण, मनुस्मृति, रघुवंशमाघ, कुमार, किरात और नैषध जैसे पंच काव्य, वैदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा, पतंजलि आदि शास्त्र, राजनीति, ज्योतिष भेद, साहित्य और संगीत शास्त्र,कोकशास्त्र की कला और वेदों के भेदों का अभ्यास कराया गया था।[5] इसके अतिरिक्त राज्य संचालन की रीतियों-नीतियों का भी ज्ञान प्राप्त कर शिकार के भेदों की भी जानकारी उन्होंने प्राप्त की थीं।[6] इन सब शास्त्रों के ज्ञान संबंधी उल्लेख से स्पष्ट पता चलता है कि राजवंशी कुमारों के लिए ही इतनी विशिष्ट शिक्षा पद्धति का प्रचलन होगा। सामान्य क्षत्रियों के लिए इतने प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना असंभव प्रतीत होता है। जहाँ तक 'प्रवीणसागर' के नायक रससागर की शिक्षा संबंधी उल्लेख का प्रश्न है उनके द्वारा उपर्युक्त शास्त्रों

---

1. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - प्रथम तरंग - 74
2. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय प्रट्टणी, पृ.- 114
3. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-13/15
4. वही-लहर - 8/5
5. वही-लहर - 8/4
6. वही-लहर - 8/7

की शिक्षा पाना प्रमाणित होता है। डॉ. मोहब्बतसिंह चौहान ने अपने शोध प्रबंध में लिखा है कि "'प्रवीणसागर' के नायक (महेरामन) ने सात वर्ष की आयु में किसी रामकृष्ण नामक व्यक्ति से 'शिक्षा-दीक्षा' प्राप्त की थी।"[1] यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि महेरामनसिंह कृत "प्रवीणसागर" में इसमें से कई शास्त्रों संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं, जो महेरामनसिंहजी के ज्ञान संबंधी विस्तार को ही उजागर करता है।

उनके प्रमुख कार्यों में गरीबों, ब्राह्मणों की रक्षा करना, अपराधियों को दंड देना, देशनिकाला देना, काव्य-रचयिताओं को आश्रय देना, उनका सम्मान करना, धर्म का रक्षण करना आदि थे।[2] इसके अलावा वे सबसे ज्यादा व्यस्त रहते थे अपने राज्य का विस्तार करने में। इसके लिए वे खूब युद्धों में शामिल होते थे। कितनी बार अनजाने में छोटी-छोटी बातों में भी वे युद्ध में उतर पड़ते थे।[3] 'लखपतिजससिंधु' के एक दृष्टांत से स्पष्ट होता है कि 'कंथकोट' और 'देदा' के किले को जितने के लिए राव रायघन ने तीन वर्ष तक युद्ध किया था -

बरस तीनि लगि बीर लरि सुमिल सेन लै साथ ।
करि देदा अपने कबज कंथ कोट किय हाथ ।। [4]

क्षत्रियों को सबसे अधिक प्रिय उनकी इज्जत और कुल की मर्यादा थी, वे किसी भी हालत में उसका उल्लंघन नहीं करते थे। कुल की मर्यादा के पालन का धर्म उनके लिए विशेष था-

वेहि विचार करी मनमें अब, चालन की सब बात डुबावो ।
वंश परंपर की कुलकानिकों, राखन को घर मांहि रहावो ।। [5]

कुल की लाज मर्यादा का उल्लंघन करने पर मृत्युदंड दिये जाने की संभावना को व्यक्त किया गया है।[6]

---

1. महेरामणसिंह कृत प्रवीणसागर का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ. मोहब्बतसिंह चौहान - पृ. 48 (अप्रकाशित शोध प्रबंध)
2. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-8/7
3. वही-लहर - 13/7,8,9,10,30
4. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - प्रथम तरंग -96
5. प्रवीणसागर - संपा.-गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-75/49
6. वही- लहर - 77/33

पारिवारिक उत्सव विवाह आदि अवसरों पर क्षत्रिय कुमार के वस्त्रों संबंधी उल्लेख में विशेष साज-सज्जा को धारण करते चित्रित किया गया है। "प्रवीणसागर" के नायक रससागर जब ब्याह के लिए जाते हैं तो उस समय उन्होंने विविध प्रकार के सुगंधित पदार्थों को लगाया है, कलगी के साथ तुर्रा माथे पर है, और अन्य कई प्रकार के वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया है।[1] अन्य एक उल्लेख में कुमार के द्वारा अत्यंत कींमती वस्त्रों को पहना जाना चित्रित किया है।[2]

क्षत्रियों के हाथों में से शासन की धुर्रा छूट जाने में परस्पर इर्ष्या, द्वेष की जितनी भूमिका रही है, उतना ही उत्तरदायित्व है, उनका विलासितापूर्ण जीवन को भोगना। मध्यकाल में यह प्रवृत्ति और बढ़ गयी थी। भोग-विलास में रत रहना उनकी कमजोरी बन गयी थी। वे तम्बुओं के नीचे कालीनों पर विराजमान रहते थे और वाद्य यन्त्रों सहित नर्तकियों के नृत्य का आनंद उठाया करते थे। शिकार जैसे मनोरंजन करना उनकी आदतें थीं। जिसका सविस्तार वर्णन गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में मिलता है। 'प्रवीणसागर' में एक स्थान पर कवि कहता है कि कुमार को कुछ काम न होने से वे मनवांछित विलास भोगते हैं -

याते कुंवर न काज कछु, मनवत सुख विलसंत,
कुल वय सम रजपूत कवि, आवृत रहत अनंत ॥[3]

एक अन्य दृष्टान्त में कुमार द्वारा अधिक समय खेल एवं नृत्य, शिकार और क्रीड़ावन में क्रीड़ा करते गुजारते बताया है।[4] तत्कालीन क्षत्रिय कुमारों में शिकार या आखेट का शौक विशेष रुप से देखने को मिलता है। शिकार के लिए कितनी ही तैयारियाँ करके काफी समय तक उसीमें रत रहते थे[5], तो दूसरी तरफ अन्य एक वर्णन में रात्रि का समय विविध प्रकार के नाटकों, खेलों और वाद्य-नृत्य के मनोरंजन में व्यतित करते थे।[6] इस प्रकार के मनोरंजनों में इतने निमग्न रहते थे कि उन्हें सूर्य का उदय एवं अस्त का पता ही नहीं रहता था -

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-15/19
2. वही-लहर - 14/20
3. वही-लहर - 8/9
4. वही-लहर - 8/11
5. वही-लहर - 9/2,3,4
6. वही-लहर - 14/1

आमिषादि नित नित असन, बहु व्यंजन पकवान ।
अस्त उदय कल परत नहिं, अति आनंद उद्यान ।। [1]

कच्छ के महाराव लखपतिसिंहजी के विषय में कहा गया है कि "वे कलाप्रेमी, मनमौजी तथा विलासी शासक थे।"[2] उनके दरबार में संगीत, नृत्य तो रोज की बात थी, अनेकों नर्तकियाँ उनके दरबार में थीं। वे अनेक गायिकाओं के साथ लीला में रत रहते थे।[3] इन्हीं नृत्यांगनाओं और संगीत से पूर्ण विलासताओं के अनेक चित्र प्रायः कितने ही राजभवनों में आज भी देखने को मिल जाते हैं, "मांडवी शहर में लखपतिसिंहजी (ई.स. 1741-61) ने युरोपियन स्टाइल के सफेद आरस के पथ्थर का महल बनवाया था, जिसमें नृत्य करती नर्तिकाएँ, चीत्ता, वाघ और हॉलैण्ड से मद्यपान के लिए मंगाये कप और बोटल के साथ आनंदप्रमोद में व्यस्त वलंदों के चित्रों के काढ़ा गया है।"[4] नर्तिकाओं के चित्र तथा मद्यपान के कप, बोटल के चित्र तत्कालीन विलासता की पराकाष्टा के जीवंत उदाहरण हैं। महाराव ने जिन राज्य-नर्तकियों को आश्रय दिया था, उस तरफ भी आशंक व्यक्त की जाती है कि वे सिर्फ नृत्य-कला और संगीत को प्रोत्साहन देने के लिए ही नहीं थी, क्योंकि महाराव की कितनी ही रखैलें और उससे पैदा हुए अवैध संताने थीं।[5] "प्रवीणसागर" में भी राजा नीतिपाल की सौलह रानियाँ होना और कितनी ही नृत्य करनेवाली नृत्यांगनाओं से उनके संबंध होने की चर्चा की गई है, साथ-साथ अर्धरात्रि तक नायिकाओं के नाच-गान के वृत्तांत भी आये हैं।[6] अलबत्त एक बात स्पष्ट है कि आलोच्यकाल के शासक विलासप्रिय थे, और आमोद-प्रमोद करना उनका स्वभाव बन गया था। डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह ने लखपतिजी के विषय में लिखा है कि "महाराव ने संगीत नृत्य में कुशल सौलह सुन्दरीयों को आश्रय दे रखा था, जिनके साथ में सारी रात जगा करते और प्रातःकाल होते सोया करते थे।"[7] 'कारा डुंगर कच्छ जा' में भी लेखक ने लिखा है कि "वो कभी संध्याकाल के चार बजे के पहले उठते ही नहीं थे, और राज्य व्यवस्था का संचालन अयोग्य-दुष्ट लोगों के हाथ में रहा करता था। उनके स्वास्थ्य पर भी उनके विलासी जीवन से विपरित असर पड़ा था, किन्तु इन सब बातों में कितनी सच्चाई है, यह कहना कठिन है।"[8]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/17
2. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, भूमिका से - xxi
3. वही-प्रथम तरंग-136,139,143
4. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ.44
5. वही- पृ.140
6. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-23/2
7. भुज की ब्रज भाषा पाठशाला, पृ.8
8. कारा डुंगर कच्छजा -अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ.- 144

जहाँ तक उपर्युक्त विवरणों का प्रश्न है तो इसके संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि लखपतिसिंहजी ने राज्य के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किये हैं, उनके समय में कच्छ राज्य ने जो विकास प्राप्त किया, इसका विचार करें तो उपर्युक्त बातें असंभव प्रतीत होती हैं। हाँ, सुख-सुविधाओं के बढने से इस प्रकार की मनोवृत्ति रही हो, किन्तु उसे पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता।

वैश्य: आलोच्यकाल में भले ही ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिए परम्परागत शब्दों का प्रयोग मिलता है, किन्तु वैश्यों के लिए अधिकतया बनिक[1] का ही प्रयोग किया गया है। 'अबुल फजल' ने भी आईन-ए-एकबरी में वैश्यों के लिए बहु-प्रचलित संज्ञाएँ बनिक और बनियाँ बताई हैं तथा फारसी में उन्हें 'बक्काल' कहे जाने का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त अन्य प्रचलित संज्ञाओं में साहा[3], साहूकार[4], बनिये[5] तो कहीं गांधी[6] शब्द का प्रयोग मिलता है। वास्तव में यह उनके व्यवसायिक नाम हैं।

कार्याधार पर वैश्य हलवाई, पंसारी, जौहरी, दलाल, बजाज आदि अनेक वर्गों में विभक्त थे। प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त अपने व्यवसाय खेती और पशु-पालन को छोड़कर उन्होंने एकमात्र व्यापार को ही अपना लिया था। 'अबुल फजल' के अनुसार अकबर-काल में उनके चौरासी वर्ग थे।[7]

उनका मुख्य कार्य व्यापार था, मध्यकालीन कवियों के काव्यों में किये गये वर्णन से ज्ञात होता है कि वैश्यों की दुकानें विशाल चौराहों पर, हारबंध होती थी, जहाँ बड़े-बड़े लोग खरीददारी करने आते थे-

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-9/15, -15/19
2. आईन-ए-अकबरी (भाग-3) - एच. एस. जैरेट, पृ.132
   The Vaisyas called Banik, More commonly termed Baniya, (grain-merchant). The Persians name them Bakkal.
3. प्रवीणसागर - संपा.गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/10
4. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साच कौ अंग-100
5. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, भूमिका से पृ. - x, द्वितीय तरंग-26
6. वही-द्वितीय तरंग-51 अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, उपदेश अंग-29
7. आईन-ए-अकबरी (भाग-3) एच. एस. जैरेट - पृ. 132
   There are eighty-four divisions.

बरबने च्यार असिये बजार, बनि सूतबंध विस्तार सार ।

मंडई पास मानिक (जु) चौक । लहि फिरत तहाँ धनवान लोक ।। [1]

बजाज लोगों की बड़ी दुकानें हुआ करती थीं, जो अधिक सामान से भरीपूरी होती थी। व्यापारीक कुशलता से उन चीजों के अच्छे दाम मिलते थे।[2] मिठाईयाँ बेचने वाले तथा अन्य कुछ व्यापारियों की दुकानें शोभा बढ़ाने वाली होती थीं।[3] इन बाजारों में लाखों के व्यापार के होने की तथा क्रय-विक्रय के लिए भारी भीड़ के ज़मा होने की बात कही गई है।[4] आलोच्यकाल में जौहरियों का बड़ा नाम था, यह लाखों का लेन-देन करते थे।[5] असली हीरे की पहचान इन जौहरियों को ही होती थी, जिसमें वे विशेष रुप से दक्ष थे। दादू ने इन लोगों का अप्रत्यक्ष रुप से वर्णन किया है।[6] व्यापारिक विनिमय, लेन-देन, ब्याज पर रुपये देने आदि का लाखों रुपयों का व्यापार भी यही लोग करते थे।[7] धंधे में उनकी होशियारी, विवेक और व्यापारिक चतुरता बहुत होती थी, दलाल लोग इस कार्य में निपुण थे।[8] अत्तर आदि सुगंधित द्रव्यों का व्यापार गांधी बजार में होता था, जहाँ भारी भीड़ हुआ करती थी।[9] सन्त कवि दादू ने अपने काव्य में सामाजिक आदर्श की दृष्टि से आध्यात्मिक प्रसंग में बनियों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करते हुए व्यापार में सत्य का व्यवहार रखने की सीख दी थी।

राम नांव कौ वणिजन बेठे, ताथैं मांड्या हाट ।

साई सों सौदा करैं, दादू षोलि कपाट ।।[10]

दादू व्यापारिक लाक्षणिकता को दशाते हुए कहते हैं कि सस्ती वस्तु के भी उँचे दाम मिल सकते हैं, इसको रुपक के माध्यम से कहा है कि आत्मा जब परमात्मा से मिल जाती हैं तो वह भी मूल्यवान हो जाती है -

---

1. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-22
2. वही-द्वितीय तरंग-23
3. वही-द्वितीय तरंग-26,42,43,45
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-7/2
5. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-28
6. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, माया कौ अंग-88
7. वही-साच कौ अंग-100
8. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-27
9. वही-द्वितीय तरंग-51
10. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साच कौ अंग-150

मिसरी माहैं मेलि करि, मौलि विकाणां बंस ।

यूं दादू महंगा भयां, पार ब्रह्म मिलि हंस ॥ [1]

बडे व्यापारियों की दुकानों में अधिक वस्तु भरी हुई होती थी, लोग उसीमें खरीददारी करने जाते थे।[2] आर्थिक समृद्धि के कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी इसीलिए ये व्यापार के विकास में इतने प्रयत्नशील रहते थे कि द्रव्य संचय करने के लिए भूख प्यास भी सहन करना उनका स्वभाव बन गया था।[3] मध्यकालीन गुजरात के हिन्दी गौरवग्रंथ 'प्रवीणसागर' में वर्णन मिलता है कि तत्कालीन राजा और राज परिवार के लोग जब शिकार करने, युद्धार्थ और ब्याह जैसे उत्सव पर जहाँ जाते थे, वहाँ उनके साथ अनेक वणिक अपनी दुकानें लेकर जाते थे।[4] इस प्रकार के राजकीय प्रवास में व्यापारियों को अपने साथ रखने का उल्लेख 'प्रवीणसागर' में कविने कई जगह पर किया है। यह वैश्य राज-परिवार से संबंध रखनेवाले खास लोगों में से होंगे जो किसी भी प्रकार के राजकीय प्रवास में जुड़ते थे और सभी प्रकार की सुख-सुविधायें प्रदान करते थे। इन वैश्यों के द्वारा राजा और राज-परिवार का खूब आदर-सत्कार होता था, कितनी ही जगह पर इनके द्वारा राज-परिवार का अभिवादन, प्रणाम आदि करते बताया गया है।[5] व्यापार के साथ-साथ राज्य-संचालन में भी इन्हीं लोगों का बोलबाला था, दिवान जैसा महत्वपूर्ण पद अधिकतर इन्हें ही प्राप्त होता था। 'लखपतिजससिंधु' में नगरसेठ का वर्णन किया गया है, जिनको प्रधानपद पर भी नियुक्त किये जाते थे-

जग सेठ सिरोमणि जस जिहाज। राजै प्रधान पद (पद) सुख समाज ॥[6]

वैसे नगरसेठ जैसे सम्पन्न घराने की व्यक्ति को प्रधान पद देने के पीछे मकसद होता था। राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दीवान-पद पर किसी सम्पन्न घराने के व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था, जिससे यदि कभी राज्य की आर्थिक स्थिति बिगड़ती थी, तो उसका उत्तरदायित्व दीवान पर आता था और उसे पद-मुक्त कर दिया जाता था। उसकी सारी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी।[7]

---

1. दादूदयाल ग्रंथावली -संपा. परशुराम चतुर्वेदी, परचा का अंग-172
2. वही-भेष को अंग-6
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-45/10
4. वही-लहर-9/4,-12/13,-35/13
5. वही-लहर-14/10,-14/25,-15/19
6. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-9
7. बोम्बे गज़ेटियर (भाग-5) - पृ. 141

'कारा डुंगर कच्छजा' में कहा गया है कि दिवान का कार्य ही कुछ ऐसा होता था कि, अधिकतर लोहाणा या वैश्य जाति के लोगों की नियुक्ति इस पद के लिए होती थी।[1] इस पद पर यह लोग इतनी कुशलता से कार्य करते थे कि उसका कोई जवाब नहीं। कच्छ के राव देसलजी के दिवान देवकरण ने कुछ ऐसी ही कार्य किये थे। उन्होंने उद्योग-व्यापार को तथा भूमि कर की उचित व्यवस्था कर प्रोत्साहन दिया था, और उनके प्रयत्नों के फलस्वरुप राज्य की वार्षिक आय 18 लाख कोरी हो गई। साथ ही देवकरण ने अपनी निजी आय 10 लाख कौरी तक बढ़ा ली थी।[2] अन्य एक उल्लेख में कहा गया है कि देसलजी के समय में उनके दिवान देवकरण ने राज्य के विकास के लिए बहुत काम किये थे, जिनको कच्छ के प्रथम दिवान बनने का मान भी प्राप्त है।[3]

इन सब बातों से निष्कर्ष निकलता है कि वैश्यों ने ज्यादातर व्यापार को ही अपना रखा था और अन्य के मुकाबले यह वर्ग समाज में सुखी था। आर्थिक विकास उन्होंने खूब किया हुआ था।

शूद्र एवं अन्य जातियाँ : शूद्र का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था। आलोच्यकाल में श्रम-विभाजन का आधार जाति-प्रथा बन चुकी थी। व्यक्ति के व्यवसाय एवं वर्ग का निश्चय उसकी योग्यता, क्षमता एवं रुचि-भेद से नहीं, वरन् जन्म के आधार पर होता था, और परम्परागत चार वर्ण किसी एक जाति या वर्ग के नहीं वरन् उपजातियों के समूह बन गये थे। शूद्र वर्ण के सम्बन्ध में यह प्रवृत्ति और भी अधिक व्याप्त थी। उन्हें प्रायः व्यवसायों के आधार पर निर्मित उपजातियों के ही नाम से अभिदित करने का प्रचलन था। मध्यकाल में व्यावसायिक वर्ग उपजातियों के रुप में परिणत हो चुके थे।

'अलबरुनी' ने मोची, बाघरी, माछीमार, धोबी, कोरी, तेली और धूर्तविद्या के जानकारों को अस्पृश्यों में गिनाया है।[4] 'मुगलकालीन गुजरात का इतिहास' में गुजरात में सामान्य रुप से अठारह वर्ण की बात कही गई है। लेखक ने 'विमल प्रबंध' का (गुजराती रचना) उल्लेख करते

---

1. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ. 161
2. बोम्बे गज़ेटियर (भाग-5) - पृ. 139-140
3. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी - विशेष दृष्टव्य के लिए पृ. 125 से 131
4. अल्बरुनीज़ इण्डिया, डॉ. एडवर्ड सचाउ, चैप्टर-IX, पृ. 102

हुए कहा है - "चार मुख्य वर्णों के अतिरिक्त अन्य चौदह में कंदोई, काछी, कुम्हार, माली, मदनियां, सुत्रार्ह (बढ़ई), भिई सांइन, तंबोली, सुनार - "नौ नारुं" हैं। तथा गांछा, छीपा, लुहार, मोची और चर्मकार - "पंच कारु" को गिनाया है।[1] वस्तुतः यह अस्पृश्य नहीं थे। ये अन्य तीनों वर्णों को अपने उद्योग और कारीगरी से सेवा करते हुए सुनियन्त्रित सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक उन्नति में सहयोग देते थे। "लखपतिजससिंधु" में भुजनगर में चार वर्णों[2] के अतिरिक्त अन्य कई जातियाँ निवास करते थीं, जिसका उल्लेख कविने किया है-

बामन रु बनिये लुहाने, लरीब भाटिये मजबूत ॥
हुन् भाटिये मजबूत भोई भाट चारण भाय।
झोसन श्ररु खोजा मोचियें जत ओड़ भाड़ उपाय ॥
.... हुन् भठारे ठंठार वालिंद, कूंजड़े किन्नार ।[3]

इन सभी जातियों का नामोल्लेख कर कविने उनके व्यवसाय और कार्य-कुशलता के उत्तम नमूनों का चित्रण किया है। ऊँचे-उँचे महलों की रचना में संगतराशों[4] की कार्य-कुशलता दिखती है, शीशे का उत्तम कार्य करने वाले शिल्पी[5], अच्छी सिलाई करनेवाले दरजी[6], लकड़ी का कार्य करने वाले बढई[7], चाक चलाकर मिट्टी से बर्तन बनानेवाले कुंभार[8], कटार, खंजर, तलवार बनानेवाले सिकलीगर[9], वस्त्र बुननेवाले बुनकर[10], गहने बनानेवाले सुनार[11], बर्तन बेचने वाले कंसार[12], जीन बनानेवाले जीनगर[13], चूड़ी बनाने वाले मनिहारिने[14], रत्नों के पारखू जानकार जौहरी[15], पालकी ले जाने वाले कहार[16], शराब बनाने वाले कलवार[17], बागों की देखभाल के लिए माली[18], तेली, धोबी, धुनियाँ, चर्मकार, क्षौर कर्म करने वाले के साथ-साथ[19] गाने-बजाने[20] वाली जातियों का वर्णन कवि ने किया है। नगर में यह लोग अपने काम से उच्चवर्गीय लोगों की अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करते थे। 'प्रवीणसागर' में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि मालिन का कार्य बागों के पुष्पों को चुनकर राजकुमारी की सेवा में अर्पित करना था, किन्तु इन चूने हुए पुष्पों को लेकर वह राजमहल में नहीं जा सकती थी। राजकुमारी प्रवीण की सखी महल

1. मुगलकालीन गुजरातनो इतिहास - डॉ. नवीनचन्द्र आचार्य-पृ. 144
2. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - भूमिका से उद्धृत - पृ. X
3. वही-पृ. X, Xi
4 से 20 वही - द्वितीय तरंग-57, द्वितीय तरंग-54, द्वितीय तरंग-55, द्वितीय तरंग-57, द्वितीय तरंग-60, द्वितीय तरंग- 62, द्वितीय तरंग-64, द्वितीय तरंग-66, द्वितीय तरंग-67, द्वितीय तरंग-65, द्वितीय तरंग-59, द्वितीय तरंग-28, द्वितीय तरंग-69, द्वितीय तरंग-70, द्वितीय तरंग-71, द्वितीय तरंग-67, द्वितीय तरंग-68

के द्वार पर आकर मालिन से पुष्प ले जाती थी।[1] इससे स्पष्ट पता चलता है कि उनके लिए राजमहल में प्रवेश निषेध होगा। अन्य एक स्थान पर मालिन के द्वारा बाग में बैठे योगी-संन्यासियों का चरण स्पर्श करते बताया गया है-

मालिनी संन्यासी दरसि, परसी आय सु पाय ।

सुभग रुप शिशुता सु बय, लखि अद्भुत सु लाय ।।[2]

अर्थात् वर्ण व्यवस्था का पालन होता था, किन्तु अधिक सख्ती से नहीं किया जाता था, उन्हें कुछ छूट अवश्य थी। जहाँ तक साधु-संन्यासियों का सवाल है, उन्होंने भेदभाव को नहीं माना। इसका विरोध किया है। मध्यकालीन कवि दयाराम ने इसीलिए पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि-

अधम जाति तहुं पूज्य बड़ जो भक्ती गोपाल ।[3]

इस पद के समर्थन में उन्होंने समाज की निम्न समझी जाने वाली जातियों के गोपाल भक्तों की एक लम्बी सूची दी है, जिनमें शबरी (भीलनी), रैदास (चमार) तो सर्वविदित ही है। वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रति शुद्ध समर्पण की भावना ने ही इनको ब्राह्मणों से अधिक श्रेष्ठ बना दिया-

शबरी भिल्ल रद्दास चमार किए विप्राधिक ।।[4]

क्योंकि उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई व्यक्ति ऊँचा नहीं बन जाता और ना ही उन्हें ही प्रभु की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रभु तो उसे प्राप्त होते हैं जो उसे सच्ची भावना से चाहता हो।[5] वस्तुतः इन कवियों ने तत्कालीन भ्रामक धारणाओं का खण्डन किया है, उनका कहना है कि "बड़ा वही है जिसके हृदय में राम बसता है और निम्न वही है जो भक्तिभाव से रहित है।"[6] समाज में प्रचलित विरोधाभास पर आघात करने का एक भी अवसर मध्यकालीन कवियों ने नहीं छोड़ा है। उनका कहना है कि मनुष्य को ऊँचा या नीचा मानने का एकमात्र आधार भक्ति है। भक्त

---

1. प्रवीण सागर-संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-69/9,10
2. वही-लहर - 69/7
3. दयाराम काव्य मणिमाला (भाग-6), संपा. नारायणदास शाह, पृ. 237
4. दयाराम काव्य-सुधा - संपा. प्राणशंकर व्यास, रसिक रंजन से, पृ. 189
5. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह, अनुभव को अंग - 1
6. वही - समदृष्टि को अंग - 1,3

चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो, श्रेष्ठ है। भक्तिक्षेत्र में प्रदार्पण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति समान है। उनमें भेदभाव का कोई प्रश्न नहीं, और जो कोई इस प्रकार की ऊँचाई-नीचाई को देखता है वह राम को नहीं देख सकता उसे सिर्फ देह-चाम दिखता है। उसे हरि की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।[1] शूद्र विषयक तत्कालीन मान्यता से स्पष्ट है कि दादू और अन्य निम्न जातियों के सन्त-कवियों के द्वारा भक्ति को अपना लेने से उनके सामाजिक मान-सम्मान में अभिवृद्धि हुई थी। डॉ. मदनगोपाल गुप्त लिखते हैं कि "भक्ति-आन्दोलन द्वारा धर्मसाधना तथा सामाजिक जीवन क्षेत्र में यह धारणा प्रतिष्ठित होने चली कि केवल गुण, कर्म, सदाचार एवं भक्ति द्वारा ही कोई मनुष्य ऊँचा पद प्राप्त कर सकता तथा इसी से पतित पावन ईश्वर प्रसन्न हो सकता है।"[2]

आशय यह है कि मध्यकालीन कवियों ने जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने के अनेक प्रयत्न किये। उन्होंने जाति के बन्धन को मिटाकर समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। ये जाति भेद समाज के लिए अभिशाप है, इसका अनुभव उन्हें था। इसमें कितने ही कवियों का सम्बन्ध ऐसे ही समाज से था, और इस बुराई के रहते सामान्य जन को किन कष्टों का सामना करना पड़ता है-इसका बड़ा कटु अनुभव उन्हें था। ये कवि अपने काल के आन्दोलन के अंग थे, जिसने समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्होंने समाज में पनपती गलत धारणाओं का खुलकर खंडन किया किन्तु मानवनिर्मित विषमता की भावना बड़ी गहराई तक अपनी जड़ें जमाती चली गई जिसका दुष्परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं। तथापि, मध्यकालीन कवियों की यह देन बड़ी ही महत्वपूर्ण है।

<u>भाट-चारण :</u> हिन्दी-कोशों में चारण का अर्थ भाट और भाट का अर्थ चारण दिया गया है।[3] उनके रीति-रिवाजों और कार्यों में भी साम्य प्रकट होता है। उनके इस कार्य आधारित साम्य का स्पष्टीकरण "आचार और धर्म शास्त्र के विश्वकोश" में हो जाता है, जिसमें चारण और भाटों में

---

1. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह, प्रतीत को अंग-2
2. मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ. 182
3. (अ) संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर - संपा. रामचंद्र वर्मा, पृ. 317,767,
   (ब) हिन्दी शब्द सागर - संपा. श्यामसुन्दर दास, पृ. 975,2556

समान रुप से प्रचलित 'त्रखा' नामक आत्म-घात की पद्धति का वर्णन किया गया है। [1]

गुजरात, विशेषकर सौराष्ट और कच्छ में भाट और चारण जाति का राजपूत राजाओं के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। राज परिवार से संबंधित भाट-चारण जाति के व्यक्ति साहित्य के अतिरिक्त अन्य कई विषयों के जानकार भी हुआ करते थे। राजसभाओं में कविता पाठ के अतिरिक्त समय-समय पर राजाओं को सलाह, प्रेरणा, प्रोत्साहन भी दिया करते थे। राजसभा से रणभूमि तक राजा के साथ में इनकी उपस्थिति अनिवार्य रुप से हुआ करती थी। राज-परिवारों के बालकों की शिक्षा का कार्यभार भी उन्हें सोंपा जाता था। इन सब कार्यों में उनका मुख्य व्यवसाय कविता रचना और अवसर विशेष पर राजसभाओं में 'डायरो' में राजा की आज्ञा से कविता सुनाना था-

सांझ भई सदसी रची, हेरत विपित बहार ।
सागर द्वै कविसे कह्यो, बरनों कवित शिकार ।।[2]

कविता रचना, गुण-गान करना आदि कार्यों के बदले उन्हें मान-सम्मान और दान मिलता था।[3] 'लखपतिजससिंधु' में उन्हें राजगुरु के समान पवित्र चरित्र का बताया गया है।[4] 'प्रवीणसागर' में राजकुमार के अंतरंग सखाओं में इन्हीं लोगों का उल्लेख किया गया है, जिनसे

---

1. दे. 'एनसाइक्लोपीडिया ओफ़ रिलीजन एण्ड एथिकस' (भाग-2), पृ. 554
   'त्रखा' पद्धतिका स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया गया है-
   चारण और भाटों को, और इनमें से भी विशेषतया चारणों को यदि नगरद्वार की रक्षा, ग्राम-पशु या किसी कोष का निरीक्षण कार्य सौंप दिया जाता था, तो वे उसकी रक्षार्थ आत्म-बलिदान तक कर देते थे। ("इस आत्म घात का परोक्ष प्रभाव यही पड़ता होगा, कि उनमें ब्राह्मणत्व का अंश विद्यमान समझने के कारण, उनकी आत्महत्या ब्रह्महत्या की कोटि में परिगणित की जाती होगी, तथा अन्य लोग, ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति से बचने की चेष्टा करते होंगे।") विश्वकोश के अनुसार काठियावाड़ के प्रायः प्रत्येक ग्राम-प्रवेश पर 'पालिया' या 'संरक्षक-पत्थर' खड़े मिलते हैं, जिन पर आत्म-बलिदान करनेवाले स्त्री-पुरुषों के नाम और तिथि लिखे रहते हैं। इन पालियों पर छुरा भोंकती हुई चारण-स्त्री अथवा अश्वारोही चारण द्वारा भाले या तलवार से आत्म-घात करने की विधि भी उत्कीर्ण मिलती है।
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर- 10/8
3. वही-लहर - 6/5
4. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग- 92
   चारन रु राज गुरु शुभ चरित्र, पाये जिनि सांसन अति पवित्र ।
   भनतहि विरुदावली भट्ट, चढ़ि बाँस बरति परि नचत नट्ट ।।

सदा राजकुमार रससागर घिरे रहते थे।[1] वस्तुतः यह सखा भाव बचपन से ही होता था। 'कारा डुंगर कच्छ जा' में राज्य के इन भाट कवियों को गोरजी (राजगुरु) के द्वारा विद्यादान[2] सम्बन्धी उल्लेख आया है।राजकुमारों के साथ-साथ राजगुरु से शिक्षा प्राप्त करने से ही उनके ज्ञान का विस्तार बहुमुखी था।'प्रवीणसागर' में कवि ने उल्लेख किया है, शिक्षा की दृष्टि से भी उनका ज्ञान बहु-प्रतिभाशाली होता था, वे संगीतविद्या, काव्यरचना, राजनीति, बहुभाषा और बहुशास्त्रों के जानकार, वेद, पुराण में प्रवीणता वाले साहसी और वीर हुआ करते थे-

करता काव्य नवीन, नाद वीणादि बजावन ।
राजभेद रिझवत, रीत संगीत सु गावन ॥
लावन उक्रि अनेक, टेक धातिरत विवेक मन ।
षट भाषा षट शास्त्र, वेद पुरवीण पुरानन ।
नाना प्रकार परपंच कर, वीर धीर गंभीर मति ।
साहस उदार सरसति प्रसन्न, जासु समय तैसी प्रकृत्ति ॥[3]

राजसभाओं में कविता करना और रणभूमि में भी अपनी कार्यकुशलता वे प्रदान करते थे। एक वर्णन के अनुसार राजा नीतिपाल और कुमार रससागर के बीच युद्ध की परिस्थिति बन जाती है, तब गुण गहीर कविराज कुमार रससागर से युद्ध न करने की विनंती करने जाते हैं तब कुमार के द्वारा उनका सिंहासन से उठकर चार कदम आगे बढ़कर कविराज का सम्मान करते हैं, और युद्ध टल जाता है।[4] कहने का आशय यह है कि युद्ध जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं में भी इन लोगों की मदद ली जाती थी। भाट-चारणों की इन्हीं वफादारी के कारण राजा उन पर बड़ा विश्वास करते थे, ये अपनी बात के पक्के होते थे। अतः राजा गोपनीय कार्यों के लिए इन्हीं में से किसी को चुना करते थे।[5] गुजरात के मध्यकालीन काव्य में वर्णित प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि भाट-चारणों की सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी थी, कुछ प्रसंगों से तो यही फलित होता है कि उनकी स्थिति ब्राह्मणों से साम्य रखती थी। उनका राजपूत जाति से भी अधिक सम्मान था। वे ब्राह्मणों की भाँति ही आशीष प्रदाने किया करते थे-

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री-लहर-8/9,10-23/3
2. कारा डुंगर कच्छजा-अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ. 110
3. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-21/17
4. वही - लहर-13/23 से 29
5. वही - लहर-21/16,18

सागर पै सुकवी गये, आशिष कीन उचार ।

सनमुख बैठे मुदित मन, मुसकत बारहि बार ।।[1]

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि राजपरिवारों से संबद्ध भाट-चारण बहुधा पढ़े-लिखे, प्रतिभा संपन्न होते थे।

गाने-बजानेवाली जातियाँ : गुजरात में गाने बजानेवाली जातियों में ढोली और मिरासी आदि जातियाँ प्रमुख रही हैं, किन्तु उसका कही उल्लेख नहीं मिलता। 'लखपतिजसरिंधु' में कई स्थान पर संगीत-नृत्यगान का उल्लेख है साथ ही साथ ढोलीनि के द्वारा ढोल बजाना और अन्य कई वाजिंत्र का वर्णन आया है[2], किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते। 'प्रवीणसागर' में एतद्विषयक कुछ उल्लेख जरुर मिल जाते हैं। उसमें नृत्य-गान द्वारा धनोपार्जन करनेवाली जातियों में स्त्रियों का होना भी वर्णित किया गया है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे। वे राजसभाओं में अपनी योग्यता के अनुसार मान-सम्मान के साथ पुरस्कार भी प्राप्त किया करते थे। इन लोगों का अपना एक दल हुआ करता था, जो अपने समस्त साजसामान के साथ भ्रमण किया करते थे। यह लोग अवसर पाकर अपना काम निकलवाने में बड़े पटु हुआ करते थे। इन लोगों पर सहज ही विश्वास नहीं कियाजाता था क्योंकि इनमें से कुछ व्यक्ति गुप्तचर का काम भी किया करते थे।[3]

मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में वर्ण-व्यवस्था संबंधी वर्णनों से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था मध्यकाल में भी कायम थी। यह चार मुख्य वर्ण कितनी ही उप-जातियों में विभक्त हो गये थे। ब्राह्मण का मान-सम्मान बना हुआ था, किन्तु उनके विचारों में धार्मिक संकीर्णता आ गयी थी। क्षत्रिय का शौर्य, पराक्रम बना हुआ था, किन्तु वैभव विलास एवं अहम् के कारण वे कमजोर होते जा रहे थे। वैश्य खेती-पशुपालन को छोड़कर व्यापार की तरफ मुड गये थे। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी। शूद्रों की स्थिति में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया था, उनमें कई और जाति शामिल हो गयी थीं। अन्य चातियों में

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-52/15
2. लखपतिजसरिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग-74
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-17/1 से 6 - 21/13

भाट-चारण आदि जाति का सामाजिक मान-सम्मान बहुत था। गाने-बजानेवाली जातियाँ अपनी कला दिखाने के लिए एक देश-देशान्तर में घूमते-फिरते रहते थें।

ii) आश्रम व्यवस्था : मध्यकाल तक आते-आते आश्रम व्यवस्था लगभग समाप्त हो चली थी। थोड़े बहुत प्रसंग गृहस्थाश्रम के मिलते हैं, किन्तु कहीं भी उसका व्यवहारतः अनुपालन नहीं दिखाया गया। कुछेक उल्लेख हैं, जो साधारण रुप में ही हैं।

अखा ने एक जगह आश्रम वर्ण को लोग भूल गये थे, इस प्रकार की बात कही है-

आश्रम वर्ण भरोसे को भूली कवी कला रस करत केलवना ।

कहेत अखो मृगवारी झकारते मानत है हम गंग झेलवना ।।[1]

अन्य कवियों के द्वारा भी उसका पूर्ण रुप से प्रचलने होने का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत पच्चीस वर्ष की अवस्था तक विधिवत् शिक्षार्जन करने के दृष्टान्त नहीं मिलते। बालक प्रायः छः साल से शिक्षा प्रारम्भ करके ग्यारह, बारह वर्ष की अवस्था तक पढ़ाई-लिखाई और शस्त्र संचालनादि कई क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करके, उसकी इतिश्री करते चित्रित किए गए हैं।[2] शिक्षार्जन के साथ-साथ बाल्यकाल की एक और प्रवृत्ति पर भी मध्यकालीन कवियों ने दृष्टि डाली है। इसमें शिक्षार्जन के साथ नाटक-संगीतादि के रसास्वादन और आखेटाभ्यास में ही व्यस्त रहते उच्च परिवार के बालकों का चित्रण किया गया है।[3] 'प्रवीणसागर' में कुमार रससागर को तेरह वर्ष तक शिक्षार्जन करते बताने के बाद उसका तुरंत विवाह कर दिया जाने संबंधी उल्लेख कविने किया है -

रससागर महाराज, भई त्रयोदश वरष वय ।

नृप प्रदीप सुख साज, किय अदर उदवाह को ।।[4]

अन्य एक वर्णन में नायिका प्रवीण का विवाह कुमार रंगाराव से छोटी उम्र में करने के

---

1. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह, संतप्रिया-106
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-8/3,4,5
3. वही-लहर-8/9,11-9/1,2,3
4. वही-लहर-15/1,2

उल्लेख मिलते हैं।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि आलोच्यकाल के कवियों की रचनाओं में हमें ब्रह्मचर्याश्रम के विधिवत पालन के उल्लेख नहीं मिलते और नहीं यह स्पष्ट होता है कि शिक्षार्जन के लिए गुरुकुल में जाकर पच्चीस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की हो।

गृहस्थ आश्रम का व्यवहारतः पालन होता था, इसका उल्लेख अधिकांश कवियों ने किया है, किन्तु किसी भी कवि ने इसको आश्रण की संज्ञा नहीं दी है। अखा ने धन, दारा, सुत, नेह, गेह, बन्धु-बांधव आदि गृहस्थ के सभी अंगों एवं उपकरणों को अनित्य, भ्रामक एवं सुख-शान्ति से रहित कहा है।[2] उनका कहना है कि मनुष्य जब तक स्वजनों के पालन-पोषण अथवा गृहस्थी के विषयानन्द को ही परमानन्द या अपना ध्येय समझकर संसार में आसक्त रहेगा तब तक वह ईश्वर में अनुरक्त नहीं हो सकता।[3]

इस प्रकार की वैराग्य-प्रेरक उक्तियों का मुख्य लक्ष्य अतिशय वासनाओं से पीड़ित ऐसे व्यक्ति ही रहे होंगे जिनकी दृष्टि में धन और काम का महत्व अधिक है, जहाँ धर्म और सत्य को कोई नहीं पूछता और जो विषय वासना के कीचड़ में पड़े रहते हैं।[4] मध्यकालीन काव्य में कवियों ने गृहस्थी के त्याग का समर्थन नहीं किया है। उनका कहना है कि सुखपूर्वक अपने महल में ही रहकर ईश्वर भक्ति तथा ध्यान लगाना उत्तम हो सकता है, जो मन से शुद्ध हो। इससे प्रगट है कि मध्यकालीन कवियों ने गृहस्थ जीवन के प्रति एक युगदृष्टा के रुप में स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है। गृहस्थ-जीवन की प्रवृत्तियों अथवा कार्यों में विवाह, संतानोत्पत्ति, आदि को विशेष महत्व दिया गया है।

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के भी कोई विधिवत् उदाहरण प्राप्त नहीं होते। सच्चे संन्यासियों के एक-दो उदाहरणों को छोड़ दूसरे अवैदिक धार्मिक संप्रदायों के साधुओं की बढ़ती संख्या और प्रभाव का काफी वर्णन मिलता है, किन्तु इन साधुओं में सच्ची साधुता का अभाव प्रायः दिखाई देता है। 'प्रवीणसागर' में संन्यासियों, गोस्वामियों, सिद्धों के जीवन सम्बन्धी विस्तृत वर्णन मिलते हैं,किन्तु अधिकांश वर्णन प्रवीण और सागर के द्वारा अपने प्रेम

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-11/3,19
2. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह, अथ भवखोडय अंग-3
3. वही-लंपट अंग-4
4. वही-लंपट अंग-7

को पाने के लिए विविध समय पर बताई गई वैराग्य विषयक उत्तेजना के रुप में है। भारतीय-अध्यात्म में अनासक्ति व वैराग्य का प्रेरक एक प्रमुख स्वर सदैव ही रहा है। अतः जैन, बौद्ध, सिद्ध, वैष्णव, नाथ, शैव, शाकत आदि सभी संप्रदायों से संबंधित सैंकड़ों या लाखों की संख्या में संन्यासियों का एक वर्ग सदैव से रहता आया है। मुगलयुग के केन्च-यात्री टेवर्नियर ने लिखा है कि इस देश में आठ लाख मुस्लिम फकीर और बारह लाख हिन्दू साधु हैं, जो भिक्षा द्वारा निर्वाह करते हैं।[1] इतनी संख्या में संन्यासियों के उल्लेख से यही संभावना व्यक्त की जा सकती है कि उन सबके द्वारा पूर्ण रुप से संन्यास धर्म का पालन करना असंभव प्रतीत होता है। अखा ने इस विषय में लिखा है कि इन लोगों में सच्ची साधुता का अभाव था, वे चमत्कारों से चकित करने, सिद्धि के प्रलोभन से मोहित करके, अपने शिष्यों की संख्या में अभिवृद्धि करते रहते थे वे लोगों की अन्धश्रद्धा, अज्ञान का लाभ उठाकर उन्हें ठगने से भी नहीं चूकते थे-

कपटी भकत स्वांगी अखा, बाना बधिक का जाल ।

जकत ध्रुजावन येहेनीया ताकूं दूर दयाल ॥

X X X X X

वेष बचन मीठे खा ओर भीतर भरे भंगार ।

देख्या लाल मीठी नहीं जैसे ओषधी कुंवार ॥[2]

X X X X X

घर धरुणी सुत बित धरे ज्यूं का त्यूं हि प्यार ।

बात बनावत राम की क्या ठग्या चाहत संसार ॥[3]

इसी प्रवृत्ति के कारण अधिकतर कवियों ने संन्यास को निरुपयोगी सिद्ध किया है, क्योंकि संन्यास का मुख्य हेतु सांसारिक माया-मोह से वीतराग होना ही हो सकता है, और वीतराग होना

---

1. भारत का इतिहास - डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ.425
2. अक्षयरस-संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह, कपटि को अंग-2,3
3. वही-चानक को अंग-6

विषय-वस्तुओं के बाह्य-त्याग से नहीं वरन् मन से संबंधित होता है।[1] इसिलिए यदि मन पर अधिकार है, तो संन्यास व्यर्थ है, और यदि नहीं हो ते भी व्यर्थ है। मन व इंद्रियों के स्ववश न होने, वस्तुमाया में रत रहनेवाले की निवृत्ति ही व्यर्थ है।[2]

तात्पर्य यह है कि कवियों ने संन्यास की अवहेलना नहीं की है, उनका कहना है कि भक्ति जो करनी ही है तो उसके लिए वैराग्य आवश्यक नहीं, और यदि आवश्यक समझा जाय तो उसके अधिकारी व्यक्ति को ही स्वीकारा जाना चाहिए, अनधिकारी व्यक्ति संन्यास लेकर स्वयं 'यतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्ट' होता ही है, समाज के लिए भाररुप भी होता है। अतः सामाजिकों को चाहिए कि वे सच्चे महात्माओं का आदर-सत्कार करें किन्तु बेपधारी-वंचकों से सावधान रहें।[3]

'प्रवीणसागर' में कई वर्णनों में कवि भारतीनंदन[4] और राजकुमार रससागर[5] को संन्यासी का वेश-धारण करते चित्रित किया गया है[6], जौ इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि, आश्रमों के विहित काल की चिन्ता न करके युवक भी वानप्रस्थी अथवा संन्यासी हो सकते थे, किन्तु उनके वैराग्य की मूल-प्रेरणा आश्रम-व्यवस्था के अनुपालन की नहीं वरन् अपने प्रेम को पाने की लालसा में उठाया गया कदम था। ऐसे कई उदाहरण आये हैं जिससे यह बात सिद्ध होती है। एक स्थान पर सिद्ध संन्यासी नारी के सौंदर्य को देखर मन में अति प्रसन्न होता है।[7] अन्य वर्णन में कुमार रससागर योगी बनकर ध्यान में बैठे हैं जो प्रवीण के नुपुर की झंकार सुनकर यह इच्छा करते हैं कि उसके दर्शन कब होंगे।[8] अन्य वर्णनों में कुमार रससागर का राजपाट छोड़कर संन्यास लेने की इच्छा व्यक्त करते हैं[9] और कुमारी कला प्रवीण के द्वारा योगिनी की तरह जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख हुआ है।[10] एक स्थान पर प्रभानाथ नामक सच्चे तपस्वी की बात आयी है, जो बड़े तपस्वी हैं, उन पर देवी प्रसन्न हैं, और वे वरदान पाकर पूर्णाभिषेकी कहलाये

---

1. अक्षयरस-संपा. डॉ. कुँअरचन्द्रप्रकाशसिंह, महाकला अंग-7,8
2. वही-वेष को अंग-4,5
3. वही-अधम अंग-17
4. प्रवीणसागर-संपा. गणपतिशंकर शास्त्री- लहर-23/9
5. वही-लहर-37/9
6. वही-लहर-52/36,37 - 53/2,3
7. वही-लहर-24/5
8. वही-लहर-38/4
9. वही-लहर-67/12,24
10. वही-लहर-77/19,20

भी अपने काव्य के अन्तर्गत निषेध किया है। इस संदर्भ में डॉ. सावित्री चन्द्र का कहना है कि "सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में वैष्णव सम्प्रदायों के बढ़ते हुए प्रभाव की पृष्ठभूमि में तत्कालीन खाद्य एवं पेय पदार्थों के प्रति सन्तों के विशेष दृष्टिकोण को परखने से मांसाहार के प्रति विरोध तथा निरामिष भोजन के प्रचार की भावना स्पष्ट हो जायेगी।"[1] आलोच्यकालीन कवियों की रचनाओं में किये गये उल्लेख से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन गुजरात में खाद्य-पदार्थों के लिए मुख्यतः भोजन[2], व्यंजन[3], पकवान[4], खान-पान[5] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

मांसाहार : राजपरिवार, सामंतों और अन्य उच्च वर्गीय क्षत्रिय कुलों में तत्कालीन समय में सर्वाधिक प्रचलित मांसाहार का उल्लेख कई जगह मिलता है। 'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने आमिष भोजन के साथ-साथ निरामिष भोजन के विविध पकवानों का वर्णन किया है, जिससे सहज ही ज्ञात होता है कि विसेष अवसरों पर बनाये जाने वाले भोज में आमिष और निरामिष दोनों प्रकार के भोज्य पदार्थों को सम्मिलित किया जाता होगा-

आमिषादि नित नित असन, बहु व्यंजन पकवान ।
अस्त उदय कल परत नहिं, अनि आनंद उद्यान ॥[6]

जहाँ एक ओर राजकुलों से सम्बन्धित कवियों ने अपने काव्य में मांसाहार का स्थल-स्थल पर वर्णन किया है, वहीं मध्यकालीन सन्त कवियों ने मांसाहार का घोर विरोध किया है और मांसाहार तथा मद्यपान से दूर रहने को कहा है-

---

1. समाज और संस्कृति, पृ.-124
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-15/27-16/24
   दादूदयाल ग्रंथावली संपा. परशुराम चतुर्वेदी, परचा का अंग-317
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/17
4. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ.344
   दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, सुमिरण कौ अंग-18, साच कौ अंग-79
5. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-27/9
6. वही - लहर-14/17

मांस अहारी मदु पीवैं, विषै विकारी सोइ ।

दादू आतम राम विन, दया कहां थी हो होइ ॥[1]

दादू कहते हैं कि जीव को मारकर खानेवालों को नर्क में जाना पड़ता है, इसलिए प्राणीमात्र को हत्या से दूर रहना चाहिए।[2] उन्होंने मांसाहारि को यम, सियार, बगला, शेर, कुत्ते और बिल्ली की उपाधि से नवाजा है-

दादू मास, अहारी जे नरा, ते नर सिंघ सियाल ।

बग मजार सुनहां सही, ये ते प्रतष्रि काल ॥[3]

तत्कालीन समय में विशेषकर मुसलमानों में मांसाहार का प्रचलन अधिक था, इसीलिए दादू ने पीर तथा मोमिन आदि को मांस खाकर बड़े मियाँ बनने पर उनकी आलोचना की है।[4] साथ ही हराम, झटके का मांस नहीं खाने की सलाह दी है।[5] उन्होंने मांसाहारियों की कड़ी आलोचना करते हुए उन्हें दयाहीन, पथ-भ्रष्ट, मलिन हृदयवाले, बदकार, जीवित होते हुए भी मरे के समान, जीवन-शून्य बताया है।[6] दादू यद्यपि अपनी रचनाओं में जीव हिंसा, अमिष भोजन का विरोध करते हैं, तथापि वे तत्कालीन समय में प्रचलित आमिष भोजन की जानकारी रखते थे। इसीलिए उन्होंने मृग के मांस को मीठा बताया है, तथा कसाई द्वारा मांस की बोटी काटने एवं कबाब का वर्णन उपमाओं के माध्यम से किया है। चंचल मन की मृग से तुलना करते हुए दादू उसके मांस को मीठा बताते हैं, और उसको मारकर खाने से स्वतः ही भोजनार्थ अन्य पशुओं का वध रुक जायेगा। चंचल मन को मारने से सभी मानसिक वृत्तियाँ - काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं सब इच्छाएँ स्वतः समाप्त हो जाती है -

मन मृघा मारै सदा, ताका मीठा मास।

दादू पाइबे कूं हिल्या, ताथैं आंन उदास ॥[7]

---

1. दादूदयाल (ग्रंथावली) - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साच कौ अंग-8
2. वही-4
3. वही-6
4. वही-5
5. वही-28
6. वही-12
7. वही - मनकौ अंग-75

मुगलकालीन आमिष भोजन की विशेषता बताते हुए दादू आगे लिखते हैं कि सींख कबाब का आत्मा रुपी प्रियतमा का विरहरुपी कसाई द्वारा गला काटे जाने पर, शलाकाओं पर कबाब की तरह भूने जाने का उदाहरण पंजाबी भाषा में दिया है-

विरह कसाई मुं गरेला, मझे बढ़ै माइ हड़े ।

सीरवो करे कबाब जीला, इये दादू जोहया हड़े ॥[1]

दादू ने मांस खाने के लिए लालायित लोगों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे तामसिक भोजन के कारण काम-वासना में घिरे रहते थे-

दादू हाडौं मुष भरया, काम रहया लपटाइ ॥

माहें जिभ्या मास की, ताही सेती षाइ ॥[2]

सम्भवतः दादू के समय में भारत में कसाइयों की दुकानें खुल गई होंगी इसीलिए उन्होंने महाकाल की तुलना उस कसाई से की है जो बकरी रुपी जीव पर कर्म रुपी छुरे से उसका गला काट रहा है तथा पंचतत्व रुपी पसलियों को अलग-अलग कर विषय के गोस्त के टुकड़े संसार को वितरित कर रहा है-

दादू सब जग छेली काल कसाई, करद लीये कंठ काटै ।

पंच तत की पंच पंषुणी, षंड षंड करि बाँटै ॥[3]

निरामिष भोजन : गुजरात के मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में विविध पकवानों, मिष्ठानों उसे बनाने में प्रयुक्त मसालों का वर्णन मिलता है, किन्तु विविध उत्सवों पर, विवाह के अवसरों पर या सामान्य दैनिक भोजन के अन्तर्गत किस प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाये जाते थे इसका वर्णन नहीं प्राप्त होता। खाद्य सामग्री का छुटपुट वर्णन ही प्राप्त होता है।

पूजा के पकवान को नैवेद्य कहा जाता था। 'प्रवीणसागर' में प्रवीण भगवान शंकर और माता गौरी को विधिपूर्वक स्नान कर उनकी पूजा करके रसादि फलों और स्वादिष्ट नैवेद्य चढ़ाती हैं। तदुपरांत मुखवास अर्पित करती है।[4] उत्सव के अवसर पर शक्कर और मिठाई बाँटने का उल्लेख

---

1. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, राग केदारो, पद-5
2. वही - मन कौ अंग-87
3. वही-काल कौ अंग-39
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 27/13

किया है।[1] तो विवाह के अवसर पर वर-कन्या के द्वारा एक-दूसरे को कंसार खिलाते प्रदर्शित किया गया है-

कंसार नार भोजन कराय ॥[2]

'प्रवीणसागर' मे अलग-अलग ऋतुओं के भोजन संबंधी विविध वर्णनों में एक स्थान पर कवि पौष्टिक और शक्तिवर्धवक विविध प्रकार के सैंकड़ों, हजारों पाक खाने के साथ-साथ गर्म भोजन के सेवन का निर्देश करते हैं।[3] अन्य वर्णनों में दूध-पाक[4], मधुर मेवा[5], आदि भोज्य पदार्थों का उल्लेख किया है। मध्यकालीन सन्त कवियों की रचनाओं में भी परोक्ष रुप से यत्र-तत्र कई वर्णन मिल जाते है। दादू ने खीर को श्रेष्ठ पकवान घोषित किया है-

दादू कीमति कोई न जाणै, षीर नीर की नाइ ॥[6]

अन्य वर्णन में सर्व प्रचलित मैदे के पकवानों का वर्णन है, जो सामान्य जनों में बहु प्रचलित भोज्य पदार्थ थे।[7] अखा ने पर्व-उत्सव के प्रसंगों पर भोजन में जार बाजरे की घूघरी बनाए जाने की बात कही है-

घूघरी मोतन की खाई रे, जबा साई मिल्यामुज घाई रे ॥[8]

सौराष्ट्र के प्रसिद्ध संत रविसाहब ने प्रचलित पकवानों में मेवा, द्राक्ष, मिठाई आदि का वर्णन किया है।[9] दादू ने मीठे रस में बने पदार्थों के मीठा बन जाने की चर्चा की है।[10] सन्त कवि अनवर ने ईख से गुड तथा खांड बनने तथा उसके पकवान का उल्लेख किया है -

आतम ईश्वर एक है रे, भिन्न कछु नव जान ।
गोल कहो के शेरडी, ए तो खांड कहो के पकवान ॥ [11]

दादू ने भी ऊख के रस को सन्तों का पेय पदार्थ माना है, तथा मिश्री बनाने का वर्णन अपने पदों में किया है।[12] तत्कालीन भोजों को बनाने के लिए किस प्रकार के अनाज का उपयोग होता

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 83/3,5
2. वही-लहर-15/27
3. वही-लहर-16/26
4. वही-लहर-74/17
5. वही-लहर-78/5
6. दादूदयाल ग्रंथावली- संपा. परशुराम चतुर्वेदी, हैरान कौ अंग-6
7. वही-सुमिरण कौ अंग-18
8. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह, जकड़ी-10
9. कच्छी सन्तों की हिन्दी वाणी-संपा. डॉ. कमल महैता, पृ.31
10. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी,परचा का अंग-175
11. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी-डॉ. अम्बाशंकर नागर , पृ.344
12. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, परचा का अंग-172,173

था, उसका उल्लेख भी प्राप्त होता है। दादू ने कण-गेहूँ को छानने, बीनने तथा उससे आटा बनाने की विधि का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, उन्होंने कहा है कि शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों को मैदा के समान महीन पीसकर विचार-रुपी छलनी से छानकर ही प्राणी का अन्त हो सकता है अन्यथा नहीं-

तन मन मैदा पीसि करि, छांणि छांणि ल्यौ लाइ ।

यौं बिनि दादू जीव का, कबहूँ साल न जाइ ।।

पीसे ऊपरि पीसिए, छांणौ ऊपरि छांणि ।[1]

'लखपतिजससिंधु' मे कवि कुँअरकुशल ने तत्कालीन समय में प्रचलित विविध पकवान, मिठाईयों का वर्णन किया है। जिससे उस युग के मिष्ठान्नों का स्पष्ट पता लगता है। उनके अनुसार प्रचलित मिष्ठान-मोतिचूर, महसूप, जलेबी, पूरीनि, दूध, पैड़े, रेबरी, गुंदपाक, गुलाबपाक, नारियल पाक, साबुदाना, हलवा, बरफी, अकबरीनि, खुरमा, खुराक, गुलगुले, सुखपुरी, लडुवा, फैनी, चीनि, मोतिये, सेव, मुंज, लमुदानि, कचौरी, मालपूए, लुचई, गांठिये, मुंगदल, बतासे आदि हैं।[2] इन मिष्ठान्नों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि इनमें से अकबरीनि आदि ऐसे नाम हैं, जिनको व्यक्ति-विशेषों के नाम से अभिहित करने का प्रचलन आरम्भ हुआ होगा। गुजरात, सौराष्ट में वर्तमान समय में भी प्रचलित गांठिया उस युग का भी प्रसिद्ध भोज्य पदार्थ रहा है। गुजरात में विशेषकर होली के अवसरों पर खाये जाने वाले धानी-चने की फोड़ने[3] की रीति का वर्णन आया है। 'लखपतिजससिंधु' में पूजा की सामग्री के साथ-साथ नैवेद्य में चढ़ने वाले भोज का उल्लेख भी हुआ है-येलची, जावत्रि, जायफल, तज. तमाल, लोंग, उठ, सुंध, सुरमा, जंगाल, सिन्दूर, सिरंग, कस्तुरी, धूर, केशर, जवादि, चंदन, कपूर के साथ मेवा, मिसरी, पिस्ता, बदाम[4] आदि।

अन्य दैनिक भोज्य मसालों में उपयोगी हिंग का वर्णन है, जिसकी वास अत्यधिक तीव्र होती है-

जैसो हींग को वास कणक को सत्य गुमावे।[5]

---

1. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, जीवन मृतक कौ अंग-38,39
2. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुंकल, द्वितीय तरंग-42 से 47
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-41/2
4. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग-39,40
5. अक्षयरस - डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, कुँडलियाँ-2

'खस-खस' का उपयोग भी होता था, किन्तु सिर्फ कच्ची खस-खस को खाने से स्वास्थ्य पर विपरीत असर पडने की बात कही गयी है-

शाने वावे पोस? रह खसखस ने आशे।
उग्योथाय अफीण, ज्योहारे जडता आवे,
काची खस-खस खाय, तातो झेर जणावे। [1]

भोज्य सामग्री के प्रवाही पदार्थो के अन्तर्गत मठो और छास[2] का उल्लेख कवि ने किया है। अन्य एक वर्णन में दूध से बनते अलग-अलग पदार्थों की चर्चा है-

दूध जमाया जाम नहिं, उनकी केसी आस रे ।
महि गया माखन गया गई समूली छास रे ।।[3]

परम्परानुसार भोजन के उपरान्त मुख-प्रक्षालन के लिए सुगन्धित वस्तुओं को ग्रहण करने की चर्चा भी कई प्रसंगों पर कवियों ने की है। 'प्रवीणसागर' में भोजन के उपरान्त मुखशुद्धि हेतु पान-सुपारी वितरित करने की प्रथा पर प्रकाश डाला गया है।[4] अखा ने पान में से मिलनेवाली लिज्जत, लालरंग, खुश्बु, आदि से तत्कालीन समय में प्रचलित पान-बीड़े के महत्व का उल्लेख किया है -

रंग, लझझ्त, खुश्बोज खोई-जब बीड़े पान पींगले जा आखे।[5]

रोगोपचार हेतु 'चूण' के रुप में पान के बीड़े को रोगी को खिलाये जाने के वर्णन मिलते हैं।[6] 'अल्बरुनी' ने कहा है कि, "ताम्बूलों (पान-बीड़े) के अतिशय सेवन के कारण, भारतवासियों के दाँत रिकतम दिखाई देते हैं।"[7]

---

1. अक्षयरस - डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, कुँडलियाँ-17
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-58/16
3. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 296
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर लहर-23/18
5. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, झूलणा-34
6. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-32/3
7. अल्बरुनीज़ इण्डिया - डॉ. एडवर्ड सचाऊ, चैप्टर -xvi, पृ. 180

"They have red teeth in consequence of chewing arecanuts with betel-leaves and chalk.

पेय पदार्थ : पेय पदार्थ भी भोजन का ही अंग है। प्राचीन समय में भोजन का प्रारम्भ और अन्त किसी न किसी पेय पदार्थ के साथ किया जाता था। पेय पदार्थों में मुख्य रूप से दो प्रकार के पेय प्रचलित थे। प्रथम में सुरापान या आसवपान या शराब (सन्तों ने प्रायः सुरा को त्याज्य घोषित करते हुए भी कभी-कभी अप्रस्तुत विधान द्वारा उसकी आह्लादकारी अवस्था जो प्रभुरूपी प्रियतम के मिलन में आवश्यक माना है)। दूसरे में जल, शरबत (जल में सुगन्धित द्रव्यादि का मिश्रण)।

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में स्थल-स्थल पर मद्यपान का वर्णन देखने को मिलता है। उच्चवर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक, स्त्रियों से लेकर पुरुषों तक और यहाँ तक कि ब्राह्मण वर्ग में भी सुरा से मिलता-जुलता माझूम, विजया (भंग) के प्रचलन का पता चलता है। सूरा के साथ-साथ अन्य कई पेय पदार्थ जिनको पीने से व्यक्ति तामसिक वृत्ति वाला हो जाता है, प्रचलित थे।

पेय पदार्थों में सुरा आदि का प्रचलन क्षत्रियों में सर्वाधिक था। 'प्रवीणसागर' में कवि ने एक स्थान पर नायक सागर को शिशिर-ऋतु में चन्द्रहासादि नामक मादक रस का पान करते, साथ ही में काम-स्तंभन की गोलियों का सेवन करते चित्रित किया है-

आमिष उष्ण अहार, चंद्रहासहं रस अचवन ।

काम थंभ गुटिकान, तेज उपचार करत तन ॥ [1]

जिससे स्पष्ट है कि मद्यपान के अतिरिक्त कामशक्ति को बढ़ाने के लिए गोलियों का सेवन भी किया जाता था। अन्य वर्णन में अर्द्धरात्रि को मित्रों के साथ सुरा-पान करते हुए नायक को प्रदर्शित किया गया है।[2]

सुरा और सुन्दरी का युग्म प्रसिद्ध है। 'प्रवीणसागर' में कई स्थलों पर नायक-नायिका को सुरापान करते वर्णित किया गया है।[3] अन्य एक वर्णन में जब तक प्रियतमा का वियोग है, सुरा-पान का त्याग करने की बात करते नायक को चित्रित किया गया है।[4] इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि सुरा के अनेक प्रकार थे, जिनका भिन्न-भिन्न ऋतुओं में सेवन किया जाना

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-16/26
2. वही - लहर-67/3
3. वही - लहर-16/20,-42/18,-43/12,-19/4
4. वही - लहर-37/19

अनुकूल माना जाता था। ब्राह्मण-वर्ग में आसव के स्थान पर माजूम के सेवन का प्रचलन था। 'प्रवीणसागर' में नायिका द्वारा अपनी ब्राह्मण सखी को माजूम देना और वयं आसव पान करते हुए कवि ने दर्शाया है-

प्रवीण सु माजुम लीन मंगाय, लियो निज ब्रह्मनिको जु लिवाय।
दुजो मंगवाई सु आसव बोलि, लयो कर किंकरि कुंभ सु खोलि ॥[1] 26/10

अन्य वर्णन में नायिका अपनी सोलह सखियों को मदिरापान करवाती है, और स्वयं भी उसका पान करती है।[2] इन वर्णनों से स्पष्ट है कि राजपरिवार और उससे जुड़े वर्गों में ही इसका विशेष प्रचलन दिखाई देता है। ब्राह्मण स्त्री के द्वारा माजुम पान करना भी राजपरिवार से जुड़े होने का कारण ही है। आशय यह कि मध्यकाल में मद्यपान राजन्य संस्कृति के प्रतीक रुप में चित्रित है।

मध्यकालीन सन्त कवियों में दादू ने जहाँ एक ओर मांसाहार का विरोध किया है, वहाँ मदिरा को सूफी सन्तों की आहलादकारी अवस्था तथा प्रभुरुपी प्रियतम के विरह में तड़पती हुई विरहिणी के प्रेमावस्था रुप की शराब के प्याले से तुलना की है। उसको पीने से प्यास बढ़ती जाती है और नशे में अमली अपना देहाभ्यास खोकर मतवाला हो जाता है-

प्रेम पियाला नूर का, आसिक भरि दीया।
दादू दिल दीदार दे, मतिवाला किया ॥[3]

अन्य एक वर्णन में दादू इश्वर की भक्ति की प्रेमरस से तुलना करते हु उस साधक की चर्चा करते हैं जो भक्ति के प्रेम रस को स्थान-स्थान पर पीते हुए सदैव आपा भूले रहता है।[4] यही नहीं, दादू मधु के बनाने की विधि का वर्णन राम भक्ति के रसायन से देते हुए कहते हैं कि सुमति रुपी कलाली (शराब बनाने वाले) ने भाव भट्टी पर वासनाओं (युवावस्था की) की काष्ठ अग्नि जलाकर संयम रुपी पात्र को मोल का रस निकालने के लिए रखा है। उसी पर प्रेम का पोता बार-बार फेरने से उच्च कोटि की मदिरा निकाली जाती है, उसको कोई विरला ही सर्वस्व दान के पश्चात खरीदकर क्षण-भर में पान करता हुआ देहाभ्यास भुल राममय हो जाता है।[5] दादू ने मदिरा (दारु) को रोगोपचार का साधन भी बताया है, वे कहते हैं कि ऐसे दारु का पान करो कि जिससे

1. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-26/10
2. वही - लहर-51/7,9
3. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, परचा का अंग-221
4. वही - परचा का अंग-248
5. वही - राग गौड़ी-56

रोगी भी निरोगी बन जाय।[1] इन वर्णनों का उद्देश्य कभी भी मद्यपान की हिमायत करना नहीं हो सकता है। दादू ने प्रभु भक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए मदिरा पान के बाद जिस प्रकार की स्थिति हो जाती है, उसे आवश्यक माना है।

'लखपतिजससिंधु' में भी शराब बनाने वाले कलालों का वर्णन हुआ है, उनके द्वारा बनायी गई शराब की अद्भूतता का वर्णन करते हुए शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा उसे पीने की बात कही गई है-

मृदु सुरभि मसालानिहि मिलाइ। काढ़त कलाल भट्टी चढ़ाइ ।
ऐसो जु फूल दारु अभूत । पीवैं पितारु मदमत पूत ।।[2]

पेय पदार्थों में आसव के साथ-साथ अमल (अफीम) का भी प्रचलन था-

सुरा आदि विधि विधि अमल, विधि विधि गान उचार ।
आमंत्रण विधि विधि नये, विधि विधि नित मनुहार ।।[3]

ऐतिहासिक विवरणों से भी स्पष्ट होता है कि अफीम का प्रचलन राजपूतों में अधिक था। वे युद्धादि के लिए सुसज्जित होने से पहले इसको खाया करते थे। 'कारा डुंगर कच्छजा' के लेखक ने लिखा है कि "जब बुलंदखान कच्छ पर हमला करने आया था, तब देवकरण सेठ ने अफीम की छूट देकर बड़े-बड़े पंथ के साधुओं का एक दल बना लिया, जो अफीम और गाँजे की छूट मिलने पर बुलंदखान की सेना के सामने पूरी ताकत से लड़े थे।"[4] औरंगज़ेब के राज्यकाल में आये फ्रेंच यात्री 'बर्नियर' ने भी राजपूतों को अफीम का अत्यधिक सेवन करने वाले प्रदर्शित किया है। उसके शब्दों में 'राजपूत बाल्यकाल से ही अफीम-सेवी होते हैं, ... क्योंकि वे अफीम के नशे में युद्धस्थल के भीषणतम केन्द्रों में जाकर मारकाट करने में रंचमात्र भी नहीं हिचकते।'[5] अफीम का राजपूतों के जीवन में महत्व डॉ. गोरीचंद हीराचंद ओझा के इस कथन में झलकता है कि "वे, भिन्न वंश के क्षत्रियों के साथ बैर तो उन वंशों की लड़कियों से विवाह करके उपशमित करते थे, जबकि समान वंश वाले को अफीम पिलाकर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करते थे।"[6] गुजराती साहित्य के स्तंभ 'झवेरचंद मेघाणी' ने अफीम के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है-

---

1. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, साच को अंग-46,47
2. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग-70
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/18
4. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ.127
5. बर्नियरनो प्रवास - अनुवाद : मणिलाल भट्ट, पृ.30
6. राजपूताने का इतिहास (भाग-1), जिल्द- I, पृ. 85

पंथी का साथी, थाक का वाहन, सूर का सरवाह,

दशमन का दाहन, कायर कुं पौरस चढे, संग्राम के

समय गोह दोहाली बंध खावे, तो दुसमन मारी कर हठावे,

जोगी का जोग सधे, रोगी का रोग मटे,

विजोगी की उदासी कटे, जुवान मेहली का गुमान बी गंजे ॥[1]

अफीम संबंधी उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसका सेवन खासकर क्षत्रियों में ही प्रचलित था, समाज के दूसरे वर्गों द्वारा इसके सेवन के विषय में वर्णन नहीं मिलते ।

अन्य पेय पदार्थों में अखा ने पाणी की महत्ता को घोषित करते हुए तत्कालीन समय में प्रचलित अनेक प्रकार के शरबत की बात कही है-

दूध शरबत हझार पीवे, और प्यास न भागे बिन पाणी।[2]

जबकि दादू ने दूध का महत्व समझाते उसको अमृत कहा है।[3] अन्य एक स्थल पर उन्होंने खट्टी-मीठी चीज को रस की उपमा दी है, जो संभवतः शरबत ही प्रतीत होता है।[4]

उपर्युक्त विवरण से यही स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में विशेषकर राजपरिवार में मदिरापान आदि बहुप्रचलित थे। ऐतिहासिक ग्रंथों में भी एतद्विषयक उल्लेख मिलते हैं। कच्छ के महाराव भारमलजी ने शराब के नशे में अंग्रेजों को अंजार से निकाल बहार करने की घोषणा की थी, और जब अंग्रेज कैप्टन उनसे मैत्री भावना रखते हुए उन्हें समझाने आता है तो वे मदिरा पीने के कारण उससे मिलने में असमर्थता प्रकट करते हैं।[5] समग्र मध्यकाल में इसी परम्परा के दर्शन होते हैं। 'मिराते -अहमदी' से पता चलता है कि - बादशाह जहाँगीर ने अपनी शराब की आदत को स्वीकार करते हुए लाचारी व्यक्त की है, और लोगों को शराब के बनाने, बिकने, या पीने की पाबंदी लगाई थी।[6]

---

1. चारणो अने चारणी साहित्य, पृ.68,69
   दरअसल प्रवीणसागर ग्रंथ के कर्ता महिरामणसिंहजी की कचहरी में एक अफीणसीने अफीण खाकर नींद का झोंका खाया। इसीलिए महेरामणजी ने अफीम का विरोध करते हुए उपर्युक्त पंक्तियां रच डालीं।
2. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह, झूलणा - 58
3. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, गुरुदेवजी को अंग-28,29,30
4. वही, साच कौ अंग - 54
5. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ. 194,195
6. मिरात-ए-अहमदी - एम.एफ. लोखंडवाला, पृ. 189

निष्कर्ष रुप में कह सकते हैं कि मदिरा-पान राजा से लेकर सभी तक प्रचलित था। स्त्री-पुरुष दोनों ही इससे पर नहीं थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण वर्ग में भी माझूम को ग्रहण करने की प्रथा थी। वस्तुतः समग्र मध्यकाल पर मद्यपान का प्रभाव छाया रहा और समाज का अधिकांश वर्ग किसी न किसी प्रकार के नशे की चीज का सेवन अवश्य करता रहा है।

ii) वस्त्राभूषण : मानव स्वभावतः श्रृंगार-प्रेमी है। निज-संसर्ग में आनेवाली सभी वस्तुओं को एक विशेष कलात्मक साजसज्जा से युक्त देखने की उसे सहजाकांक्षा रहती है। उसकी इस सौंदर्य पिपासु अंतदृष्टि ने नैसर्गिक श्रृंगार-प्रियता को और भी अधिक अभिवृद्ध किया। मनुष्य आदिम युग से ही प्रकृति प्रदत्त सौकुमार्य और लावण्य में चार-चाँद लगाने की आकांक्षा से विविध वेषभूषा, श्रृंगार-उपादानों का प्रयोग करके अपने सामाजिक वातावरण में लोगों में अपना आकर्षण बनाने की चेष्टा करता रहा है।

स्वयं को सुसज्जित और आकर्षक बनाना मानव मन की स्वाभावित दुर्बलता है। सभ्यता के विकास के साथ यह प्रवृत्ति कला के रुप में परिवर्तित हो गई। इस कला के अंतर्गत वस्त्र, आभूषण तथा श्रृंगारादि कलाएँ आती हैं। मनुष्य की स्वाभाविक या नैसर्गिक सुंदरता में यही वस्त्र तथा भूषण, श्रृंगारादि धारण करने से चार-चाँद लग जाते हैं। वस्त्राभूषण किसी भी समाज की भौतिक उन्नति को प्रदर्शित करते हैं। डॉ. सावित्रीचन्द के अनुसार "किसी भी देश में काल विशेष के समाज की उन्नति और सभ्यता के एकपक्षीय स्वरुप का दर्शन, वहाँ के विभिन्न वर्गों के वस्त्रों की कोटि एवं बहुमूल्य आभूषणों से हो सकती है।"[1]

वस्त्र : वस्त्र व्यक्तिगत रुचि और सामाजिक स्थिति के सूचक होते हैं। प्रत्येक देश व समाज की वेशभूषा पृथक-पृथक होती है और वह उस समाज की दैनिक जीवन पद्धति को अभिव्यक्त करती है। मध्यकालीन काव्य में सामान्यतः तत्कालीन जन-जीवन में प्रचलित वेशभूषा के विविध रुपों का वर्णन मिल जाता है। कहीं-कहीं ऋतुओं के क्रम के अनुरुप वस्त्र व उसके रंग सम्बन्धी वर्णन भी प्राप्त होते हैं। अधिकतर वर्णनों में राजन्य संस्कृति का प्रभाव झलकता है।

---

1. समाज और संस्कृति, पृ.94

वस्त्र के लिए बसन[1], अम्बर[2], कपड़े[3], पट[4] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः बसन को वस्त्र[5] कहने का प्रारम्भ भी इसी काल में हो गया था, जो एक-दूसरे के पर्यायवाची थे।

पुरुषों में सिर पर पगड़ी बाँधने का विशेष प्रचलन था। 'बाँधे टेढ़ी पाघ'[6] से टेढी पगड़ी बाँधने की प्रथा की ओर संकेत किया गया है। सिर पर धारण करने वाले वस्त्रों में पगड़ी प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति का अंग रही है, और उसे टेढ़ी बाँधने की प्रथा मध्यकाल में भी मिलती है-

पीत बसन तन बन्यौ है पिछौरा टेढी पाग ढौरों लटकाए ॥[7]

'प्रवीणसागर' के ग्रंथकार ने पगड़ी को किस प्रकार सजाया जाता था, उसका विस्तार से वर्णन किया है। कुमार रससागर ने सुन्दर रंग की पेचदार पगड़ी, जिसमें मोती और अन्य मूल्यवान रत्नों की झालर लगी हुई है, पगड़ी में हुमायूं पक्षी के पर की कलगी भी लगी हुई है, जिसमें रत्नजडित सरपेच डालकर पहेना है।[8] मोरपीछ लगी पगड़ी में दो या उससे अधिक सरपेच डालकर पहने जाने का उल्लेख भी किया है।[9] उसे फूलों से सुसज्जित भी किया जाता था।[10] पगड़ी के अतिरिक्त कुल्ही भी सिर पर धारण करने का प्रचलन था, जिसे पगड़ी की तरह विभिन्न रंगो से सजाया जाता था-

शिरपेच कुलह सु रंग तोरन झुक्कियं .... [11]

पगियासेत कुलही धरी अरु मोतिनि के अवतंस । [12]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 16/16, 25, 27
   कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 854
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 16/21
3. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, झूलणा-90
4. वही - संतप्रिया-49 , प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-16/19
5. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग-64
6. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी-डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 320
7. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 1021
8. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/20
9. कृष्णदास, संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 33
10. वही- पद सं. 1008
11. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-15/19
12. कृष्णदास, ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 979

पगडी को बहुविध सजाया और आकर्षित बनाया जाता था, जिसका मूलोद्देश्य वैभव-प्रकाशन और प्रभुत्व का अभिसूचन करना होता था।

अन्य वस्त्र में धोती, पट शरीर के अधोभाग में पहने जाने वाले वस्त्र थे, जबकि उपरी भाग में दुपट्टा, उपरना, चादर पहने जाते थे। अधोभाग में पहनी जाने वाली धोती किनारीदार होती थी। और उपरि भाग में रंगीन दुपट्टे को ओढ़ा जाता था।[1] धोती को मल्लकाछ लगाकर बाँधने का उल्लेख भी किया गया है।[2] जहाँ पहले किये गये वर्णन के अनुसार दुपट्टे को शरीर पर ओढ़ा जाता था। जबकि 'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने दुपट्टे को कमर में लपेटकर बाँधा हुआ दर्शाया है।[3] कंधे पर ओढने के वस्त्र में दुशाला डाल रखने का वर्णन है।[4] ग्रंथकार ने ऋतुओं के अनुसार वस्त्र परिधान करने का वर्णन किया है। हेमंत ऋतु में काले वस्त्र पहनना, जिसमें दुशाले ओढने के साथ-साथ दलदार चीलावाला साझा बाँध रखने का वर्णन किया है।[5] शिशिर और वसंत ऋतु में श्वेत वस्त्रों को धारण करने का उल्लेख किया गया है।[6] मध्यकालीन संत त्रिविकानंद ने अप्रस्तुत विधान के द्वारा जैसा शाल वैसा ही ककनीरी (कुर्ता) पहने जाने का वर्णन किया है।[7] कृष्णदास ने चोलना का वर्णन किया है, जो एक प्रकार का ढीला कुर्ता ही है, जो गले से टखनों तक का होता है। साधु-सन्तों के वस्त्रों के रुप में यह आज भी पहना जा रहा है-

नवरंग चोलना की चटक कुंचित भ्रुकुटि की मटक ।[8]

चोलना के समान ही कंथा नामक वस्त्र भी वैरागियों द्वारा तत्कालीन समाज में पहना जाता था। दादू भी कंथा को योगियों के विशेष परिधान के रुप में वर्णित करते हैं-

सवद सुई सुरति धागा, काया कंथा लाइ ।
दादू जोगी जुगि जुगि पहरै, कबहूं काटि न जाइ ।।[9]

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 320
2. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 268
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/20
4. वही - लहर-14/20
5. वही - लहर-16/23,24
6. वही - लहर-16/25,27
7. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर , पृ. 273
8. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 1056
9. दादू दयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी - भेष कौ अंग-44

जबकि 'प्रवीणसागर' में योगियों, संन्यासियों की वेशभूषा का वर्णन किया गया है- संन्यासी मस्तक पर केसर का त्रिपुण्ड और सिन्दूर बिन्दी, शरीर पर भस्म लगाकर कोपीन और मृगचर्म, कंधे पर चद्दर, हाथ में दण्ड और कमंडल के साथ-साथ सिंगी, सारंगी, अचला और कमर में डाम का कटिबन्ध धारण किया करते थे।[1] संन्यासी की वेशभूषा के इस वर्णन से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि ने यहाँ वैदिक संन्यासी का वर्णन नहीं किया है। संन्यासी के हाथ में दण्ड कमंडल के साथ-साथ श्रृंगी, सारंगी औड़ अचला आदि का वर्णन सिद्ध करता है कि उक्त संन्यासी कोई सिद्ध या नाथपंथी साधु ही होगा, वैदिक संन्यासी नहीं। वैदिक संन्यासी और नाथपंथी साधुओं दोनों के लिए संन्यासी शब्द का ही प्रचलन तत्कालीन समय में सौराष्ट्र में रहा होगा। इन संन्यासियों के साथ-साथ गोस्वामीजी की वेशभूषा का वर्णन भी 'प्रवीणसागर' में प्राप्त होता है। मध्यकालीन गुजरात में और सौराष्ट्र में सर्वत्र वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव अधिक दिखता है। यह भी इतिहास सिद्ध बात है कि श्री वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथजी ने गुजरात और सौराष्ट्र की यात्रा की थी। अष्टछाप के कवि कृष्णदास (अधिकारी) जो गुजरात के थे, उन्हीं विठ्ठलनाथ, वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में गुजरात में वैष्णव संप्रदाय का सर्वाधिक प्रभाव था। 'प्रवीणसागर' में वैष्णवों के आचार्य गोस्वामी जी की राजसी वेशभूषा और ठाठ-बाट आदि का सविस्तार से वर्णन मिलता है - वे पितांबर धारण कर केसरयुक्त चंदन का अर्चन करते थे, कपाल में कस्तुरी का ऊर्ध्व पुंड तिलक करना, कंठ में तुलसी की माला पहनना, कसुंबी रंग का सुनहरा जामा धारण करना, नीले रंग की सुनहरी तार की किनारीदार एक पगड़ी सिर पर बाँधना, आसमानी रंग का मनोहर बेल-बूटे वाला दुपट्टा कमर में बाँधना, पगड़ी में रत्नजड़ित सिरपेच, हाथ में केसरी रंग का रेशमी रुमाल, के साथ-साथ कई प्रकार के हीरा, माणेक व कई प्रकार के आभूषणों को धारण करते थे।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि धर्म-प्रचारक भी वैभवशाली जीवन व्यतीत करते थे। उनकी वेशभूषा भी राजा-महाराजाओं जैसी हुआ करती थी। वर्तमान समय में भी हमें वैष्णव संप्रदाय के गोस्वामियों की इसी प्रकार की वेशभूषा एवं राजसी रहन-सहन के दर्शन होते हैं।

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-23/8
2. वही - लहर-53/3

'प्रवीणसागर' में अधिकतर वर्णन राजन्य संस्कृति के पोशाकों का मिलता है। पुरुषवर्ग शरीर पर जामा पहनते थे, कमर में दुपट्टा बाँधा जाता था और कटार, तलवार आदि शस्त्र भी धारण किये जाते थे। इसके उपरान्त वस्त्रों को अत्तर आदि सुगंधित द्रव्यों से सुवासित भी किया जाता था।[1] विवाहादि प्रसंगों पर जरी, रेशम के वस्त्र पहने जाते थे। कुमार रससागर ने अपने विवाह में केशरी रंग के जरी बुटे वाले वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया गया है।[2] विवाह मंडप को भी जरीन तथा रेशमी कनात से तना हुआ वर्णित किया गया है।[3] दहेज में कन्यापक्ष की ओर से वर-पक्ष को जरी के वस्त्र के साथ अनेक आभूषण देने का वर्णन किया है।[4] अखा के द्वारा भी तत्कालीन समय में सोने के तारों से जड़ित त्रापड़, कसीदे से भरे रेशम, मखमल आदि के जड़ाऊ वस्त्र पहने जाने का वर्णन किया गया है।[5] 'लखपतिजससिंधु' में किये गये वर्णन के अनुसार रेशम मिलाकर विविध रंग के वस्त्र बनाये जाते थे।[6] अन्य एक वर्णन से पता चलता है कि रामसिंह मालम द्वारा लगवाये गये कारखाने में विविध प्रकार के वस्त्रों को काढ़ा जाता था।[7] इतिहास ग्रंथों से भी इसके प्रमाण मिलते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात' में गुजरात को भारत का सौन्दर्य एवं अलंकरण बताते हुए शाहजहाँनाबाद में जो जरी, सिल्क तथा धारीदार कपड़े बनते थे, अब उस पर रोक लगा दी गयी है, और गुजरात में उसके उत्पादन के लिए व्यवस्था करने के लिए दिल्ली के बादशाह का संदेश गुजरात के सूबेदार को लिखा गया था।[8] अन्य एक उल्लेख के अनुसार अहमदाबाद में सुनहरी जरी के कपड़े, चाँदी जरी के कपड़े, मखमल तथा ताकता मिलने का उल्लेख भी किया गया है।[9] उस समय तक जरी और कमख्वाब जैसे वस्त्रों का प्रचलन पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। 'आइन-ए-अकबरी' में अबुल फजल ने जरी के अठारह प्रकार के वस्त्रों के नामों तथा मूल्यों का उल्लेख किया है, जो भारत में गुजरात तथा विदेशों से भी आते थे।[10]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-14/20
2. वही - लहर-15/19
3. वही - लहर-15/24
4. वही - लहर-16/6
5. अक्षय रस - डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, झूलणा-90
6. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल - द्वितीय तरंग-49
7. वही - द्वितीय तरंग-85
8. हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात (भाग-2) - एम.एस. कमसरियट, पृ.208
9. वही - पृ.52
10. आइन-ए-अकबरी - एच.एस. जैरेट, भाग-1, पृ.98

दादू ने कोली द्वारा धागे पर पाण लगाकर नलिका में धागा लगार ताने-बाने में अनेक रंग भरता हुआ संलग्न हो श्रेष्ठ पट बुनने का उल्लेख किया है।[1]

'प्रवीणसागर' में विदेशी वेशभूषा का वर्णन भी हुआ है। वेश-विन्यास के संदर्भ में फिरंगी वेशभूषा का चित्रण प्राप्त होता है। ग्रंथकार के अनुसार फिरंगी ने सिर पर तीन नोंक की जड़ाऊ टोपी, जूर के तारों से बने कोट-पतलून, कमर में दोनों तरफ दो पिस्तौल, हाथ में बेंत धारण कर रखी है -

त्रिकुटी शिरताज जराव धरी, कुरती जरतार बनात करी ।।

पिस्तोल धरी दोऊ कमर में, नवरंग छड़ी सु लई करमें ।।[2] 30/6

इस वेशभूषा से यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में ('प्रवीणसागर' के रचना समय) सौराष्ट्र के लोग अंग्रेज सिपाही की वेशभूषा से तो परिचित होंगे, किन्तु अंग्रेज डॉक्टर का नाम मात्र सुना होगा। इसीलिए फिरंगी वैद्य की जडाऊ टोपी का उल्लेख किया है और कमर में एक के स्थान पर दो पिस्तोलों का उल्लेख किया है।

अन्य वर्णनों में राज-सेना के सैनिकों के विविध प्रकार के रंगबिरंगे वस्त्र पहने हुए चित्रित किया गया है।[3]

स्त्रियों की वेशभूषा के अन्तर्गत मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में साड़ी का विशेष रुप से वर्णन मिलता है साथ अन्य वस्त्रों में लहँगा और कंचुकी का उल्लेख मिलता है। आकर्षक प्राचीन भारतीय वस्त्र साड़ी को मध्यकाल में सारीं, चीर आदि कहा जाता था। लाल रंग स्त्रियों का प्रिय रंग है। उस समय भी लाल किनारीदार साडियों का प्रचलन रहा होगा, इसका वर्णन कई जगहों पर मिलता है-

कुंदन तन सारि अरुन सेत बरन कंचुकी,

तनु कंचुकी छवि पीत आरुन सारहें. [4]

---

1. दादू दयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, राग सोरठि-1
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-30/6
3. वही - लहर-12/8
4. वही - लहर-17/22,26

अन्य वर्णनों में विविध रंग की साड़ि और कंचुकी पहने जाने का वर्णन किया है-

फिरोसी सु चीर धरयो छेहरे किनार जर.[1]

श्वेत साड़ी और श्यामरंग की कचुंकी पहनने का उल्लेख भी किया गया है[2], जो तत्कालीन समाज में वेशभूषा के ज्ञान संबंधी समज का ही परिचायक है । अन्य वर्णन में जरी की साड़ी पहने जाने का वर्णन किया गया है ।[3] कृष्णदास ने नीले रंग की जरी वाली साड़ी और कंचुकी पहने जाने का वर्णन किया है -

पहिरि तन कंचुकी नील सारी जरी, [4]

अखाने स्त्रियाँ द्वारा पंचरंगी चोला पहने जाने का चित्रण किया है -

पचरंगी चोला मेरा रे। चोला लाल हमेला रे। [5]

अन्य वर्णनों में कृष्णदास ने झूमक साड़ी का उल्लेख किया है-

झूमक सारी पीत अँगिया स्याम जु राजहीं ।[6]

स्वामी प्राणनाथ ने भी कृष्णलीला के पद मे साड़ी का उल्लेख किया है । [7]

स्त्रियों के अन्य वस्त्रों के वर्णन में लहँगा जो भारतीय नारी की प्राचीन वेश-सज्जा का अंग है, वर्णित हुआ हैं । 'प्रवीणसागर' मे ग्रंथकार ने स्त्रियों की संपूर्ण वेश-सज्जा का वर्णन किया है - नायिका प्रविण ने शरीर पर सुन्दर नीलाम्बर धारण किया है, काली जरीदार कंचुकी पहनी है, जरतारों से युक्त लहँगा जो लालरंग का और बूटेदार हैं, साथ में केसरिया रंग की किनारी दार साडी को धारण किया हैं -

हाटक अंग नीलांबरं धारियं.....साम पटंजरी कचुंकी सोहित

लाल लहंगा जरंतार बुट्टा भजें, केसर सार किनार सारी सजे ।[8]

अन्य एक वर्णन में उपवस्त्रों एवं अधोवस्त्रों में एकरुपता को दर्शाया गया है, जो वस्त्रकला ज्ञान को ही उजागर करता है। आसमानी रंग का सुनहरे तारों से युक्त लहंगा के साथ सुनहरे तारों से

---

1. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/21
2. वही - लहर-17/18,20
3. वही - लहर-17/24
4. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 624
5. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, जकड़ी-16
6. कृष्णदास, पद सं. 978
7. प्राणनाथ : सम्प्रदाय एवम् साहित्य - डॉ. नरेश पण्डया, पृ. 270 से उद्धृत
8. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-37/5

भरी हुई कंचुकी और कसूंबल रंग की सितारों से जड़ी चन्द्रकला धारण की थी, जिसके सिरे और किनारे चमकते सुनहरे तारों से भरे हुए थे -

लहेंगा लसें सोसनी तार गत्ती, कसें अंगिया नील रुब्बेरी भत्ती ।

कसुंबी धरे तारिका चंद्रसारी, भरे छेहरे तार सारं किनारी ।[1]

साड़ी तथा लहँगे के साथ शरीर के ऊपरी भाग में अंगिया पहनी जाती थी। अंगिया के सामने उदर को ढंकती हुई पट्टी का नाम अंतरोटा है। कृष्णदास ने होरी के पद में इसका उल्लेख किया है-

उनकें अतरौटा अतलस कौ लाल, अंग दरसाई ।[2]

कृष्णदास ने एक जगह पर तनसुख चोली का भी वर्णन किया है, साथ में लाल रंग के लहँगे, झूमक सारी एवं पचरंगी ओढनी जो सिर पर ओढी जाती थी, उल्लेख किया है -

लहँगा लाल झूमंक की सारी, पचरंग सिर ओढनी बनाई ।

नवरँग उर तनसुख की चोली।[3]

बाहरी संस्कृति के प्रभाव स्वरुप सूथनी का भी प्रचलन हो चला था, कृष्णदास ने सूथनी पहनने से सोभा में अभिवृद्धि होने का सूचन एक पद में किया है -

सूथन सेत पॉइनि पाहिरें सोभा बढी अपार ।[4]

इसी प्रकार विदेशी संस्कृति के प्रभाव स्वरुप पेशबाज, इजार के प्रचलन का प्रभाव भी दर्शाया है।[5]

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में पद-त्राण विषयक कोई विशेष उल्लेख नहीं हुआ है, कह सकते हैं कि मध्यकालीन कवि पद-त्राण के विषय में प्रायः मौन रहे हैं। संभवतः उस समय तक पदत्राण धारण करने का अधिक प्रचलन नहीं था अथवा वह पैर में पहनी जानेवाली वस्तु होने के कारण बिल्कुल महत्वहीन होता था। गुजरात में आज भी पदत्राण को घर के बाहर ही उतारकर घर में प्रवेश का चलन है- इसीलिए कवियों ने उसके उल्लेख को अनावश्यक माना होगा।

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-55/12
2. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 979
3. वही - पद सं. 50
4. वही - पद सं. 979
5. वही - पद सं. 10,88

ओढने, बिछाने के वस्त्र : मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में पर्व, उत्सव आदि सामाजिक प्रसंगों पर एवं दैनिक उपयोग में आनेवाले कुछ वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। ओढ़ने और बिछाने के काम में लाये जानेवाली गुदड़ी का वर्णन हमें ज्ञान और भक्ति के संदर्भ में मध्यकालीन कवियों (सन्तों) की रचनाओं में मिलता है। गुदड़ी रुई अथवा फटे-पुराने कपड़ों को सिलाई द्वारा जोड़कर बनाई हुई मोटी चद्दर होती है। इसको बिछाने और ओढ़ने दोनों कामों में लाया जा सकता है। सन्त कवि अनवर ने काया को गुदड़ी की उपमा देते हुए उसके ओढ़े जाने की बात कही है-

काया हमारी गोदड़ी रे, ओढ़े फिरे दिन रात ।
ज्ञानी कहे अम और है, नहीं काया हमारी जात ।। [1]

तो सन्त कवि दादू ने गुदड़ी को सूफियों और सन्तों का वस्त्र मानते हुए इसकी तुलना गुरु ज्ञान से की है-

ग्यान गुरु का गूदड़ी, सबद गुरु का भेष । [2]

अन्य उपकरणों में सेज पर बिछी हुई चद्दर को गंगा के फेन के समान बताते सेज पर रखे छोटे-बड़े तकिये का वर्णन किया है।[3] इन तकियों पर सुंदर चित्रकारी भी की होती थी।[4] सन्त कवि दादू ने भी तकिये का उल्लेख करते हुए स्वयं को ब्रह्म का स्वरुप मानते हुए स्वयं को ही अपना तकिया कहा है-

मेरे तकिए मैं रहूँ, कहै सिरजनहार ।।[5]

कृष्णदास ने भी गादी तकिये का उल्लेख किया है।[6] अन्य एक दृष्टान्त में ज्यादा रुई से भरे गद्दे पर शयन करने का उल्लेख किया गया है।[7] जो उच्चवर्ग के लोगों के द्वारा प्रयोग में लाया जाता होगा।

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी -डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 55/12
2. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, भेष कौ अंग-45
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-16/2
4. वही-लहर-18/7
5. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, परचा का अंग-196
6. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 1004
7. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर -लहर-16/24

अन्य वर्णन में विवाह के प्रसंग पर मंडप में जरी का रेशमी चंदवा को बिछाने का वर्णन है।[1] इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं वस्त्रदान की बात भी कही गयी है। राज-कुल के लोगों द्वारा अतीव प्रसन्नता के अवसर पर आनंदित होकर अपने पहने हुए अति कीमती वस्त्रों को दान में दे देना सामान्य बात थी। 'प्रवीणसागर' में राजकुमार प्रवीण के द्वारा अपनी सखी कुसुमावली को कई बार अपने कीमती वस्त्रों का दान देने का उल्लेख कविने किया है।[2]

आभूषण : वस्त्रों की भाँति इसका संबंध भी श्रृंगार विधि से है। भारतीय समाज में स्त्रियों की आभूषण-प्रियता प्रख्यात रही है, जबकि मध्यकाल में तो पुरुष भी विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण किया करते थे। समाज में प्रचलित विभिन्न आभूषणों का उल्लेख मध्यकालीन रचनाओं में मिल जाता है। बहुमूल्य धातुओं के रत्नजटित आभूषणों के द्वारा तत्कालीन संस्कृति के अलौकिक वैभव का प्रदर्शन हुआ है, जिसमें कहीं-कहीं ऐश्वर्य प्रदर्शन की भावना झलकती है। इन सभी आभूषणों के वर्णन में सोने से निर्मित या सोने के साथ-साथ रत्नजड़ित माणेक, मोती, जवाहरात से जड़े आभूषणों का वर्णन अधिकांशतः हुआ है।

पुरुषों के मस्तक के आभूषणों में मोरमुकुट, किरीटमुकुट तथा सेहरा आदि का उल्लेख है-

मोर मुकुट कुंडल झबि, कांछिनी बनी विचित्र[3]

मकर कुंडल क्रीट कुंतल.... ॥[4]

कवि गिरधर ने कृष्ण की छवि का वर्णन किया है-

मयूरन पीछ मुगट धरे,.....[5]

कृष्णदास श्रीकृष्ण के सेहरे का वर्णन करते लिखते हैं-

सीस सेहरौ बन्यौ है लालकें गज मोतिनि के हार।[6]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-15/24
2. वही-लहर-28/2-31/5
3. कृष्णदास-संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 625
4. वही - पद सं. 572
5. कवि गिरधर जीवन अने कवन, डॉ. देवदत्त जोशी, पृ.162 से उद्धृत
6. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 101

और माथे पर लट के साथ गजमोतियों की लटकन का उल्लेख भी किया गया है।[1]

कानों के आभूषणों के रुप में कुंडलों तथा ताटंक, अकोटा आदि का वर्णन किया गया है। कुंडल मीन, मकर मयूर एवं शुक्र की आकृतियों के बनाए जाते थे परंतु सामान्य रुप से मकराकृति कुंडलों का प्रचलन अधिक था -

कुंडल मकर तिलकु अलकावलि.

कुंडल मकर भ्रमर जानों गुंजत नटवर त्रिभुवन मोंहै ।।[2]

कान अकोटा ग्यान, जुगत को झुटणो.... ।[3]

स्रवन स्रुति-विमोहन चल कुंडल ताटंक ।[4]

कनकफूल का उल्लेख भी किया गया है-

काननि कनिक फूल उर मोती-माल लोल, [5]

नाक के आभूषणों में बेसर का उल्लेख हुआ है। जो मध्यकाल में स्त्रियों का प्रमुख श्रृंगार आभूषण था। यद्यपि सामान्य जन-जीवन में तत्कालीन समय में भी पुरुषों द्वारा नाक के आभूषणों का प्रयोग नहीं होता था, परंतु कृष्ण के स्वरुप वर्णन में गजमोती और बेसर का उल्लेख मिलता है। मीरांबाई ने तो हरि के नाम कों ही बेसर कहा है-

बेसर हरिको नाम, चूडोचित ऊजलो... [6]

कृष्णदास ने भी अपने काव्य में इसका उल्लेख किया है-

स्रवन कुंडल भाल तिलक बेसरि नाक,[7]

विमल कपोल नाक मुकताफल [8]

कवि गिरधर ने भी इन आभूषणों का वर्णन किया है-

नथ बेसर हार बिहार भरे ।[9]

---

1. कृष्णदास- संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 590
2. वही - पद सं. 128,140
3. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ.52
4. कृष्णदास- ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. -28,668
5. वही - पद सं. 642
6. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ.52
7. कृष्णदास, ब्रजभूषण शर्मा, पद सं.।31,118
8. वही - पद सं. 128
9. कवि गिरधर जीवन अने कवन - डॉ. देवदत्त जोशी, पृ.-62 से उद्धृत

गले के आभूषणों में कंठसर, नवसर हार, मोती की माला आदि का विविध प्रकार से दृष्टान्त दिया है। 'प्रवीणसागर' में राजन्य संस्कृति के प्रभाव स्वरुप इन सबका विशद वर्णन हुआ है। नायक रससागर को गले के आभूषणों में मणियों का मूल्यवान हार, मुकताफल मोतियों की माला और हीराजटित सोने का कंठा धारण करते दर्शाया है-

मनी जट चोकिय मोतिन माल,

X X X X X

मनहार मुत्तिय माल दूलरि चुक्कियं ।[1]

हाथ के आभूषणों में कंगन, वलय, मुद्रिका, बाजूबंद आदि का उल्लेख किया गया है-

कर कंकन अति राजै रतन-जटित सोभा ऐसी
बेल कल कंजन छुटी लट बाजूबंदन की।[2]

वलय कंकन बाजूबंद आजानु भुज मुद्रिका
करदल विराजित नवरवबली ।[3]

कर मुद्रिका भुजबंध कंकन सोहितं,[4]

कटि के आभूषणों में छुद्रघंटिका, मेखला प्रमुख हैं-

जटित छुद्रघंटिका कनक हीरा भई।[5]

नूपुर किंकिनि स्वर-संमिलित सुनु सखि।[6]

चरन-गति डगमगत, गत नूपुर मेखला मनहुं[7]

पैरों के आभूषणों में नूपुर, पेंजनी का उल्लेख हुआ है। नूपुर के प्रमाण उपरोक्त उदाहरणों से मिल जाते हैं। अन्य एक तथ्य भी स्पष्ट होता है कि छुद्रघटिका और मेखला दो पृथक कटि भूषण थे। डॉ. मायारानी टण्डन ने भी दोनों को पृथक कटि भूषण बताया है, एक नहीं।[8] 'आइन-ए-अकबरी' में कटि-मेखला को अत्यधिक सजावट वाली पेटी बताया गया है, जबकि छुद्रघंटिका-स्वर्ण तारों में स्वर्ण-घंटिका जोड़कर बनाया जाने वाला कटि आभूषण बताया गया है।[9]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकरशास्त्री - लहर-14/20- 15/19 - 16/17
2. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 31
3. वही - पद सं. 118
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-15/19
5. कृष्णदास - व्रजभूषण शर्मा- पद सं. 118
6. वही - पद सं. 972
7. वही - पद सं. 798
8. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृ.152
9. आईन-ए-अकबरी (भाग-3), एच. एस. जैरेट, पृ. 344
   1) Kati-Mekhla, a golden belt, highly decorative
   2) Chhudr-Khantika, golden bells strong on gold wire and twisted round the wrist.

उपर दिये गए उदाहरण "नुपुर किंकिनि स्वर संमिलित...।" से भी यह स्पष्ट होता है कि यहाँ किंकिनि आभूषण पैरों के लिए दिखाया गया है। साधारणतया किसी भी किंकणी लगे आभूषण को किंकणी की संज्ञा प्रदान की जा सकती थी। डॉ. राहुल सांकृत्यायन ने किंकणी लगे नूपुरों का उल्लेख किया है।[1]

'प्रवीणसागर' से प्राप्त उल्लेखों में पुरुष के शरीर पर धारण किये जानेवाले संपूर्ण आभूषणों का वर्णन आया है। पुरुष सिर पर पगड़ी बांधा करते थे जिस पर मोतियों और रत्नों की लड़ियाँ सजाई जाती थीं। उस पर कलगी के साथ-साथ शीर्षफूल नामक आभूषण भी लगाया जाता था। गले में मूल्यवान मोतियों की मालाएँ, हार औड़ रत्नजटित कंठा, हाथ में पहुँची और दसों अंगुलियों में अंगूठियाँ पहनी जाती थीं। शरीर पर कमर में कटार, तलवार आदि शस्त्र भी धारण किये जाते थे।[2] दसों अंगुलियों पर अंगूठियाँ और इतने सारे आभूषणों का पहने जाना ऐश्वर्य प्रदर्शन की भावना का ही परिचायक है, जो प्रायः उच्चवर्ग में अधिकतर देखी जाती थी।

विवाहादि प्रसंग में पहने जानेवाले आभूषणों में कंठाहार, मणिदार मोती की माला, हाथों में बाजूबन्द, चौकी और जड़ाऊ कंकण, उंगलियों में अंगूठी मुख्य थे।[3] अन्य आभूषणों में मोतियों के अलग-अलग आभूषण धारण करना, हीरा का जड़ाऊ भूषण, पन्ना जड़े आभूषण, सुंदर माणिक युक्त आभूषण जिसमें विविध प्रकार के भाँति-भाँति के नंग जड़े होते थे आदि हैं।[4] पुरुषों के आभूषणों में भाँति-भाँति के हीरा, मोती, पन्ना, बहुमूल्य नंग, माणिक आदि का प्रचलन जोरों पर था।

तत्कालीन योगीयों के आभूषणों के उल्लेख में लाल केसर की बिंदी, गले में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कंकण, पाँव में लोहे के लंगर आदि का वर्णन हुआ है।[5]

---

1. राजस्थानी रनिवास, पृ. 8
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर - 14/20
3. वही - लहर - 15/19
4. वही - लहर - 16/17,19,21,23,24,27
5. वही - लहर - 37/8

स्त्रियों के आभूषणों का वर्णन भी हमें बड़े व्यापक रुप में मध्यकालीन काव्य में मिलता है।

शीश तथा माथे के आभूषणों में सर्वाधिक उल्लेख शीशफूल और बेंदा या बेंदी का हुआ है। सामान्य जीवन में इसे टीका भी कहा गया है। मोतियों की लड़ से बालों के बीच इसे टांका जाता था।

मांग जटित सेंदुर बिंदिया हो कनक मयूर सीस फूल। [1]

झूमत अलंक तेरे बदन-कमल पर। [2]

मांग मोतिनि छटा... । [3]

हीरक मानिका..... वर बेंदी । [4]

कान के आभूषणों में अवतंस, खुंभी, ताटंक आदि का वर्णन हुआ है।

ताटंक मनि जटित ।[5]

खुटिला खुंभी हीरा जड़े हो। [6]

नाक के आभूषणों में नथ बेसरि आदि का वर्णन किया गया है। नाक की लौंग का फूल सुहाग का प्रतीक माना जाता है। बेसर प्राचीन काल से आज तक सौभाग्य सूचक आभूषणों में गिनी जाती रही है -

तिल-सुमन सम नासिका हो मुक्ता बेसरि अमोल।[7]

नक-बेसरि सुबनी सुहाग की निधि। [8]

गले के आभूषणों में विविधता विद्यमान है। मुख्य हार है जिसमें बनावट के अंतर के कारण नाम में भिन्नता आ जाती है। इसके अलग-अलग नाम कवियों ने दिये हैं। कंठहार, चंपाकली जो गले से चिपका हुआ आभूषण था, उल्लेख हुआ है-

कंठ मुकता ब्रज-खचित हारावली।[9]

चंपाकली पेंचनि में जुउरसि रही... । [10]

---

1. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा - पद सं. 804
2. वही - पद सं. 755
3. वही - पद सं. 54
4. वही - पद सं. 79
5. वही - पद सं. 54
6. वही - पद सं. 804
7. वही - पद सं. 84
8. वही - पद सं. 45
9. वही - पद सं. 48
10. वही - पद सं. 33

बाहु और हाथ के आभूषणों में वलय, कंकन, मुद्रिका, पहुंची, बाजूबंद आदि का वर्णन है-

बलय कंकन चुरी मुद्रिका। [1]

बलय कंकन बाजूबंद हीरा-जटित।[2]

मुद्रिका अंगुली विच..... ।[3]

कटि के आभूषणों में मेखला का वर्णन है। यह भी मणिजड़ित अनेक आकारों की बनाई जाती थी। छोटे-छोटे घुंघरु लगे होने के कारण चाल के साथ इसका स्वर भी धीमा या तीव्र होता था। किंकिनी, मेखला आदि का उल्लेख द्रष्टव्य है-

कृस कटि, रशना विसाल। [4]

कुनित किंकिनी चरन नुपुर धुनि।[5]

मेखला-स्व चल बिराजु।[6]

स्वामी प्राणनाथ के काव्य में भी इन्ही आभूषणों का वर्णन मिलता है -

बॉहे चूड़ी भाजू बंध सोंहे फुमकस पोंहोची कांडो कड़ी हस्त कमल मुंदरी ।।[7]

पैरों के आभूषणो में पायल, जेहरि, विछुए, झांझन आदि का उल्लेख हुआ है -

पग जावक बिछुआ बाजने हो, पायल जेहरि जु जुराउ ।[8]

'प्रवीणसागर' में राधा-वन्दना के संदर्भ में तत्कालीन समय में प्रचलित सभी प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया गया है - पग की अंगुलियों में बिछुये, अंगूठों में अनवट, पग में जड़ाउ जेवर जिसमें अनेक घुघरुओं को भी जडा गया है, कमर में मेखला, गले में हमेलहार, कठ में मुक्तामाल, ललाह पर रत्न-जड़ित लाल बेंदी और मस्तक पर शीशफूल धारण किया है जिसमें रत्न भी जड़े हुओ है ।[9] उपर्युक्त वर्णन में कवि ने पैरों से लेकर शीश के आभूषणों का वर्णन किया है, जिसे उर्ध्वगामी वर्णन कहा जा सकता है ।

---

1. कृष्णदास -संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 54
2. वही - पद सं. 48
3. वही - पद सं. 48
4. वही - पद सं. 804
5. वही - पद सं. 1063
6. वही - पद सं. 48
7. महामति प्राणनाथ मनीषा - डॉ. वीणा भगत, पृ. 88
8. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 804
9. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर- 3/13

अन्य एक स्थान पर प्रवीण के पूरे साज-श्रृंगार का विस्तृत वर्णन किया गया है - पांव के अंगुलिया में बिछुआ, पैरों मे झांझर, गले में हीरे का हार, कंठमाला में लाल पत्राजड़ित चोकिया, ग्रीवा में दोलर हार, कंठी, नाक में बेसर, कान में कर्णफूल, भूजाओं मे बाजूबंद, कर में कंकण और चूडियां, पहुंचा, पहुंची, अंगुलियो में अंगूठी, नख और हथेली में मेंहदी की लाल रंग की बूंटियां, कपाल में अर्ध चन्द्राकार बिन्दी उस पर चडाउ चंद्रिका साथ में वेपरी से बंधा हुआ वेपरी भूषण पग तक लटक हुआ है, आदि का उल्लेख किया हैं ।[1] — 15/25

अन्य कई स्थलों पर ग्रंथकार ने उपर्युक्त बात को ही दोहराया है, अतः जगह पर इस प्रकार के कई आभूषणों के वर्णन हमें 'प्रवीणसागर' में मिल जाते है ।[2]

iii) सौन्दर्य - प्रसाधन : सौन्दर्य-प्रसाधन व्यक्ति के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ नही है, किन्तु वे अभिरुचि तथा रीति नीति के परिचायक होते हैं, जिन्हें संस्कृत मानव सदा से अपनाता आ रहा है। भौतिक जीनव के विकास के साथ-साथ मनुष्य अपनी अभिरुचियों का संस्कार करता जाता है । नारी-जीवन के सौन्दर्य-प्रसाधन रुप सोलह-सिंगार मध्यकाल में भी परम्परागत रुप से चले आए थे । आलोच्याकलीन कवियो ने भी सोलह-सिंगारों का उल्लेख रुढ अर्थ के अन्तर्गत किया है, क्योंकि प्रचुर निर्देश मिलते हुए भी न तो किसी कविने उनकी तालिका दी है और न उनके द्वारा वर्णित श्रृंगार प्रकारो की संख्या ही निश्वत रुप से सोलह बैठती है, किन्तु विविध जगहो पर किये गये वर्णन के अनुसार क्रम से ही न सही, परंतु अलग-अलग स्थान पर किये गये वर्णन से तत्कालीन समय में प्रचलित सौन्दर्य कला विषयक जानकारी जरुर प्राप्त होती है ।

'आईन-ए-अकबरी' में सोलह श्रृंगार की जो नामावली दी गई है, उसके अनुसार (1) तेल या उबटन लगाना (2) स्नान (3) जुडा बाँधना (4) मॉग में मोती भरना । (5) चन्दन-विलेपन

---

1. प्रवीणसागर- गणपतिशंकर शास्त्री, लहर- 15/25
2. वही - लहर- 14/21,-20/27-39,-28/4-37/5,8,-38/10,-51/22,-55/12,-77/31

(6) सुवसन (7) सम्प्रदाय या जाति-विशेष से सम्बन्द चिन्ह बनाकर उन्हें मुक्ता या स्वर्णाभिरणों से अलंकृत करना (8)काजल लगाना (9) कर्णाभिरन पहनना (10) नाक में काँटा या नथ पहनना (11) ग्रीवाभरण धारण करना (12) मुक्ता और पुष्पों के हार पहनना (13) मेंहदी-रचाना (14) किंकिणी पहनना (15) पैरों में आभूषण पहनना (16) पानखाना तथा स्त्री का मधुर-भाषिणी होने के साथ-साथ उसका कामकला चातुर्य. स्त्री-श्रृंगार के सोलह अंग होते है।[1]

जबकि हिन्दी शब्द सागर[2] और संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर[3] में-(1) उबटन (2) स्नान (3) गंध द्रव्यादि का प्रयोग (4) काजल लगाना (5) वेणी बन्धन (6) माँग-भरना (7) बिन्दी एवम् तिलक करना (8) चिबुक पर तिल रचाना (9) मेहंदी रचाना (10) महावर लगाना (11) पुष्पमालाएँ पहनना (12) ताम्बूल सेवन (13) दाँतों पर मिस्सी लगाना (14) सुवसन और आभूषण पहनने को दोनों कोशों में सोलह-श्रृंगारों में परिगणित किया गया है। शब्द सागर में सोलहवां श्रृंगार होठ रचाने को माना गया है, जबकि द्वितीय कोश में उसका स्थान दंत-मंजन करने को दिया गया है।

मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में सोलह सिंगार शब्द का प्रयोग काफी जगह मिलता है। अखा ने कहा है कि-

सब आभूषण मेरा रे, सोला सिंगारा सेरा रे।[4]

'प्रवीणसागर' में भी कई जगह इसका शब्द का प्रयोग मिलता है-

सजे सोर सिंगार, उर सु दशा अभिसार ग्रहि ॥[5]

1. <u>उबटन</u> : उबटन मलने का मूलोद्देश्य शरीरांगों में मार्दव लगाकर, उनकी कांतिवर्धन करना होता है। स्नान के पूर्व इसका प्रयोग किया जाता था -

फुलेल अंग रंजिय..... ।[6]

अंग उवटं सु रंज, ...।[7] 15/25

---

1. आईन-ए-अकबरी (भाग-3) - एच.एस. जैरेट, पृ. 342-43
2. हिन्दी शब्द सागर - संपा. श्यामसुन्दर दास, पृ. 3692
3. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - रामचन्द्र वर्मा, पृ. 948
4. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह, जक़ड़ी -13
5. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-28/3, 17/20,26-51/9
6. वही - लहर-28/4
7. वही - लहर-15/25

2. <u>स्नान</u> : उबटन के पश्चात स्नान किया जाता था। स्नान को नैत्यिक कर्म के स्थान पर सोलह श्रृंगारों में परिगणित करने का मूल कारण कदाचित् यही है कि, उससे शरीरांगों की कांति निखर उठती है। धार्मिक अनुष्ठान या विशेष अवसरों पर स्नान के लिए पानी में केसर, गुलाबजल डाला जाता था-

गुलाब नीर मंजियं..[1]

अन्य वर्णन में मधु माधवी के महकते जल में स्नान की बात कही गई है-

माधवी सलील मंज,[2]

3. <u>केशों की सजावट - वेणी बन्धन</u> : केश सज्जा के विभिन्न रुप स्त्रियों के श्रृंगार के संदर्भ में मिलते हैं। लंबे, घने और काले बाल सौंदर्य का प्रतीक माने जाते थे।

'कृष्णदास' ने राधाजी के लम्बे केश का वर्णन किया है।[3] भीगे केशों के सुखाने के लिए उन्हें अगर आदि सुवासित धूपों का धूम्र दिया जाता था, बाद में वेणी बाँदने से पूर्व उनमें इत्र, फुलेल डाले जाते थे और बेणी गूंथ उसमें कमल के फूलों को गूंथा जाता था-

केस पास अग्र धूप, नेह लाय ग्रंथि वैन, नीरजं प्रसून श्रेन.

गंधसार धारलीन,.....[4]

मध्यकालीन भारत में सम्भवतः बालों में तेल के साथ-साथ सुगन्धित द्रव्य फुलेलादि का प्रयोग आम बात हो गई थी। श्रृंगार-सज्जा में केश-सज्जा का उच्चतम महत्व है। भारतीय नारी प्राचीन काल से विविध केश-सज्जा के लिए जगत-प्रसिद्ध हैं।

4. <u>माँग निकालना</u> : केशों को शीश के मध्य भाग से दोनों और विभाजित करते हुए माँग या पटिया निकाली जाती थी।[5]

कृष्णदास ने भी इसका वर्णन किया है-

मांग मोतिनि छटा,[6].....

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-28/4 - 14/21
2. वही - लहर-15/25
3. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 87
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-15/25, - 28/4, - 20/24
5. वही - लहर-20/23, 15/25
6. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 54

माँग को भरने के लिए सिंदूर का प्रयोग होता था।[1]

5. <u>अँजन</u> : सौंदर्यवर्धन के साथ-साथ नेत्रों के स्वास्थ्य वर्धन के लिए अंजन का प्रयोग किया जाता था।

'प्रवीणसागर' में आँखों के काजल की बारीक रेखा को सांप के बच्चे की उपमा दी है -

चख नागसु नाग नये बनवा, चमकीसु खधोतनको रचवा ।[2]

6. <u>चिबुक पर तिल बनाना</u> : गोराभ मुखचन्द्र पर काले तिल की शोभा ने कवियों को तिलशतक जैसी कृतियों के प्रणयन की प्रेरणा दी है।

चिबुक के काले तिल को पके हुए आम के फल पर नाजुक भंवरे के बच्चे की उपमा दी है-

चिबुकं वहि ठोड़िय मेचक की, तरुराज अनंग पटी चितवा ।[3]

चिबुक पर तिल बनाना सौंदर्य के साथ-साथ बुरी नजर से बचने के लिए किया जाता है।

प्यारी के मुख पर चोवा कौ राजत रुचिर डिठौना ।[4]

7. <u>बिन्दी एवं तिलक लगाना</u> : सिन्दुर, काजल लगाना, चिबुक पर तिल बनाना आदि के वर्णन पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केसर आदि के तिलक बिन्दी का टीका लगाना आदि का वर्णन देखेंगे।

'प्रवीणसागर' में श्रृंगार वर्णन में कपाल में नायिका केसर का लेपन करती है, उसके कपाल पर लाल चंदवा और उस पर जंगाली रंग की टीकी भी शोभायमान है-

चरची अरचा किय केसर की,.... बिंदवा छवि लाल जॅगाल बढ़ी।[5]

अन्य एक वर्णन में कपाल में केसर का आड लगाकर गुलाल की बिन्दी लगाने का वर्णन है-

ललार आइ केसरी, गुलाल बिंदुली करी... जराव बिंदुली जरी....।[6]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-20/26, 28/4
2. वही - लहर-20/31
3. वही - लहर-20/17
4. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 89
5. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री -लहर-20/30
6. वही - लहर-28/3

अन्य वर्णनों में मस्तक पर केसर का तिलक और जड़ाऊ चन्द्रिका[1] तो दूसरी जगह कपाल में केसर का खोर और कुंकु बिन्दी[2] लगाने का वर्णन है। कृष्णदास ने मृगमद तिलक का वर्णन किया है।[3]

8. <u>मेहंदी रचना</u> : हाथ-पैरों की शोभा बढ़ाने के लिए मेहंदी का प्रयोग किया जाता था। मध्यकाल में भी इस कला का पर्याप्त विकास हुआ देख सकते हैं।

'प्रवीणसागर' में नख और हथेली में मेहंदी की लाल रंग की बूंटियों का वर्णन किया गया है।[4] अन्य एक वर्णन में-

हिये सु पान मेदियं, ... [5]

9. <u>महावर, जावक से एड़ियाँ रचाना</u> : जावक महावर लगाने की प्रथा का वर्णन भी मिलता है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ आज भी कई प्रांतों में दैनिक श्रृंगार प्रसाधन के रुप में इसका प्रयोग करती हैं-

'प्रवीणसागर' में पैरों में महावर लगाये जाने का वर्णन है-

सु पाय जावकं कियं।..[6]

कृष्णदास ने भी इसका वर्णन किया है।[7] 'प्रवीणसागर' में महावर लगे पांव की उंगलियों में विछुआ आदि का वर्णन है-

जावकं रचे सुपाय, बीछुआ अनोट लाय, [8]

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार के अभिमत से महावर का न लगाना शोक या दुःख को सूचित करता था, अतः सुहागिन स्त्रियाँ मंगल-चिह्न के रुप में इसको धारण करती थी।[9] 'प्रवीणसागर' में पाँव में

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री-लहर-15/25
2. वही - लहर-14/21
3. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 38
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री-लहर-15/25
5. वही - लहर-28/4
6. वही - लहर-28/4
7. कृष्णदास - ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 90
8. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-15/25
9. प्राचीन भारत के प्रसाधन, पृ -90

महावर लगाने से नायिका की क्रान्ति दुगनी हो जाने का वर्णन है।[1]

10. <u>सुगंधित द्रव्य</u> : सुगंधित द्रव्यों के प्रति आसक्ति मनुष्य में प्राचीन काल से चली आ रही है। श्रृंगार के रुप में आकर्षण के लिए इनका प्रयोग किया जाता रहा है। प्रायः स्नान के पश्चात् विभिन्न सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था, जिसमें केसर, गुलाबजल, अरगजा, चंदन, चोवा, आदि का प्रयोग किया जाता था। शरीर को सुगंधित बनाने के लिए इनका प्रयोग अवश्यंभावी था।

'प्रवीणसागर' में छाती पर मलयागिरि चंदन का लेपन करना वर्णित किया गया है-

नीरजं प्रसून श्रेन, गंधसार धारलीन,[2]

कृष्णदास ने भी विविध गंधाधि द्रव्यों का वर्णन किया है-

चोवा केसरि मृगमद घोरी लैजु सीसते ढारी।[3]

चौवा चंदन अगर अरगजा सरस भाँति फेंकत बूकारी॥[4]

11. <u>पान-बीड़ा खाना</u> : सोलह श्रृंगारों में ताम्बूल-सेवन भी एक आवश्यक अंग था, जिसका अभिप्रेत मुखश्वास को सुवासित करना तथा होंठ रंचाना रहता होगा। 'प्रवीणसागर' में कई जगह इसका वर्णन आया है-

वीर पानवीर देत, [5]

पुनरंभव सु पान, लाल बुटिका रचान। [6]

अरनाइ अनाप तमोर असी [7]

अन्य श्रृंगारिक वर्णनों में केशों में वेणी के साथ-साथ पुष्पमालाएँ धारण करना[8], वेणी के साथ घुंघरुओं को गूंथना[9] , दाँतों में सोने की कीलों को जड़ना[10],अंग धूप सुलगा कर अंग-अंग

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-20/39
2. वही - लहर-15/25
3. कृष्णदास- संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 976
4. वही - पद सं. 971
5. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-14/21
6. वही - लहर-15/25
7. वही - लहर-20/33
8. वही - लहर-15/25
9. वही - लहर-20/24
10. वही - लहर-20/32

में सुवास लेना[1], आदि का वर्णन किया गया है।

12. <u>सुवसन</u> : सुवसन का अभिप्राय यही है कि धारण किये जाने वाले वस्त्र कटाव-छँटाव तथा रंग आदि दृष्टि से सुरुचिपूर्ण हो और उन्हें ऐसे चातुर्य से पहना जाए कि वे विविध शरीरांगो में एक अभिनव आकर्षण पैदा कर सकें।

वस्त्रों के इस प्रकार के वर्णन की जानकारी पीछे किए गये वर्णनों से प्राप्त हो जाती है।

13. <u>आभूषण कला</u> : आभूषणों को नारी सौंदर्य के अभिवर्धन के लिए किस प्रकार अपरिहार्य समझा जाता था, तथा वे विविध शरीरांगों को किन-किन आभूषणों से मंडित करती थीं[2], वैसे विस्तार से इन तथ्यों पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है।

पुरुषों के श्रृंगारिक वर्णन में स्नान तो अपरिहार्य है ही, इसके बाद प्रचलित श्रृंगार में विवाह आदि उत्सव पर गंध द्रव्यादि के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं-

चरचे सु अत्र गुलाब माधुर छुट्टियं । [3]

उपर्युक्त विवरणों से यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि मध्यकालीन भारत में प्रचलित वस्त्राभूषणों में विविधता व्याप्त थी और अनेक प्रकार के रंगबिरंगे वस्त्रों को विविध अवसरों पर पहना जाता था। आभूषणों में भी विविधता देखने को मिलती है और स्त्रियों के साथ-साथ पुरुषों में भी आभूषणप्रियता विद्यमान थी। वस्त्राभूषण एक कला है, जिस प्रसाधन कला भी कहते हैं, और भारत में इसका ठीकठीक विकास देखने को मिलता है। यह कला मध्यकाल के अंत तक आते-आते उद्योग के रुप में भी विकसित हो गई थी। अनेक प्रकार के वस्त्रों का उत्पादन होने लगा था। प्राचीन समय में प्रचलित श्रृंगार प्रसाधनों (सोलह श्रृंगार) का प्रचलन मध्यकाल में भी परम्परागत रुप में विद्यमान था, इसमें ज्यादाकर श्रृंगारविधि के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं।

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-28/4
2. वही - लहर-20/27,28,29,32,34 से 39
3. वही - लहर-15/19

iv) दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुएँ : 'प्रवीणसागर' में किये गये वर्णन के अनुसार प्रातः उठकर सुगंधित तेल से मर्दन कर गंगोदक से स्नान करके देवोपासना करने का क्रम नायक सागर के नित्यकर्म के रुप में किया गया है।[1] कभी-कभी स्नान के लिए गुलाबजल का भी प्रयोग होता था।[2] स्नान के बाद शरीर को पोंछने के लिए अंगोछे का उपयोग होता था-

अंग अंगोछ विच्छायतं आहियं,[3]

सुगंधित द्रव्यों से स्नान, वेणी-फूलों का उपयोग बहुत होता था।[4] स्टेनली बारबौसा ने भी लिखा है कि गुजरात में (खंभात) लोग अलंकार एवं सुगंधित द्रव्यों के शौकीन हैं। स्त्रियाँ सिर में मोगरा आदि के फूल डालती हैं।[5] श्रृंगार के बाद मुख देखने के लिए आइने का उपयोग किया जाता था।[6] राजदरबार की कार्यवाही के समय वातावरण में शुद्धता लाने के लिए दरबारियों पर चौवा, चंदन, केसर आदि का छिडकाव होता था।[7] 11|20

रात्रि के समय दिपकों का उपयोग होता था। जिसके जलने से वातावरण में प्रकाश फैल जाता था।[8] अन्य वर्णन में हजारों प्रकाशमय हांडी और गिलास के झूमके द्वार तथा कंगूरों के किनारे लगाये हुए होते थे।[9] जो प्रकाश फैलाने के साथ-साथ नगरों को शणगार प्रदान कर देदीप्यमान बनाते थे। उत्सवों, प्रसंगों आदि पर केसर, अत्तर, गुलाब, चंदन आदि के नकशीदार पात्रों में भरा जाता था। मोतियों भरे थाल और फूलों की छबड़ियाँ भी साथ में रहती थीं।[10] सोने के लिए शैया का उपयोग होता था, जिस पर बिछे चद्दर और तकिये को चित्रकारी से सुशोभित किया जाता था।[11] युद्धादि, शिकार या प्रवास के प्रसंग पर रहने-सोने के लिए तंबू लिये जाते थे, और तम्बू में ही रात्रि बिताने की व्यवस्था रहती थी साथ में व्यापारियों की सामान से भरी हुई दुकानें रहती थीं, जो दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं।[12]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-8/7
2. वही - लहर-14/21
3. वही - लहर -37/5
4. वही - लहर-28/4,6-66/11
5. स्टेन्ली बारबोसा, पृ. 64-66
6. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-28/4,
   लखपति जस सिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, भूमिका से उद्धृत, पृ. -XXXV
7. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-11/20
8. वही - लहर-14/1
9. वही - लहर-18/7
10. वही - लहर-14/13
11. वही - लहर-14/16 - 16/2 - 18/7
12. वही - लहर-12/12,13, -14/1

पूजा करने के साम्रान में पुष्प, केसर, कपूरा, चंदनादि का उपयोग होता था।[1] होम-हवनादि के अवसर पर पंचामृत (दूध, दही, शर्करा, मधु और घी) को पवित्र प्रसादी के रुप मे बनाया जाता था।[2] पूजा के अवसर पर इसको प्रसाद रुप में अवश्य बनाया जाता था। आज भी गुजरात में पूजा के अवसर पर इसे बनाया जाने का प्रचलन है। तत्कालीन दैनिक जीवन में रसपान के लिए काँच के पात्रों का उपयोग होता था।[3] भोजन के पश्चात् मुखशुद्धि के लिए पान-सुपारी खाने का प्रचलन था।[4] अन्य वर्णनों में बड़े पात्र के रुप में लोटे का उपयोग[5] छोटी-छोटी वस्तुओं को लाने-ले जाने के लिए थैली[6], हवा खाने के लिए पंखे[7] का उपयोग होता था। अंग्रेज लोग टोपी का इस्तेमाल करते थे।[8]

अन्य उल्लेखों में 'प्रवीणसागर' में घड़ियाल[9] के वर्णन से यही ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में इसका प्रचलन रहा होगा। 'लखपतिजससिंधु' द्वारा इसकी पुष्टि हो जाती है। रामसिंह मालम द्वारा घड़ी के कारखाने डालने की बात कवि ने की है।[10] मध्यकालीन संत कवि त्रिकम साहब ने भी अप्रत्यक्ष रुप से अपने काव्य में इसका उल्लेख किया है-

सदाई खे गुलतानी रे, लागी प्रीतुनहीं खे छानी।

अनहदनाद गगन धन गाजे, झालरी वागे झीणी झीणी रे....[11]

संत कवि अखा ने लोगों को आँख पर चश्मे पहनने की बात कही है।[12] अंधे और काने लोग कृत्रिम आँख बनवाते थे। कृत्रिम दाँत भी बनवाये जाते थे।[13] बालक को सोने के लिए झूलणा होता था।[14]

---

1. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-38/4
2. वही - लहर-37/2
3. वही - लहर-18/8 - 26/26
4. वही -लहर-23/18
5. वही -लहर-18/7
6. वही -लहर-28/6, 29/15
7. वही -लहर-16/2
8. वही -लहर-31/20
9. वही -लहर-53/26
10. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग -89
11. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, डॉ. अम्बाशंकर नागर, त्रिकमसाहब, पृ. 173
12. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाश सिंह, राम परीक्षा अंग -16
13. वही - भोली भक्ति अंग -13
14. वही - जकडी -25

तत्कालीन समय में पत्र व्यवहार भी होता था, लोग अपने संदेशों का विनिमय कागज (पत्र) लिखकर किया करते थे। लिखने के लिए कलम (लेखनी) का उपयोग होता था।[1]

'प्रवीणसागर' में दूर की वस्तु नजदीक देखने के लिए दूरबीन (दूरध्या) के उपयोग का उल्लेख किया गया है।[2] 'लखपतिजससिंधु' में भी एतद्विषयक उल्लेख मिलते हैं।[3]

रोगोपचार में वैद्य के द्वारा उपचार हेतु कई प्रकार की वस्तुओं का उपयोग बताया गया है, जिसमें जड़ी-बूटी, नवरंग चौवा [4], व चूणादि[5] आदि औषधिओं के द्वारा रोग व्याधि को मिटाया जाता था।

V) कलापरक मनोरंजन एवं क्रीड़ात्मक मनोरंजनः मनुष्य जीवन को सुखद बनाने के हेतु अनेकानेक मनोरंजन के साधनों का प्रचलन सदैव सभी समाजों में मिलता है, क्योंकि जीवन की अन्य सामाजिक, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य की भावनात्मक अपेक्षाएँ, आवश्यकताएँ मनोरंजन है। प्रत्येक मनुष्य का मनोरंजन उसकी व्यक्तिगत रुचि संस्कारों के साथ-साथ उसकी आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। संस्कृति के विकास के साथ उनका रुप परिवर्तन होता गया है। प्रारंभ में नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध आदि मनोरंजन के साधन बने तो बाद में नाटक-कहानी, आखेट-धूत आदि भी उसमें जुड़ते चले गए। कुछ साधनों का विकास शारीरीक श्रम और शक्तिवर्धन के लिए किया गया तो कुछ का मानसिक प्रखरता प्राप्त करने हेतु। इसी प्रकार कुछ साधन ऐसे हैं जिसमें प्रभूत धन की आवश्यकता रहती है और वे उच्चवर्ग द्वारा ही अपनाये जा सकते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक साधनों द्वारा उपलब्ध मनोरंजन जनसाधारण द्वारा भी अपनाये जाते रहे हैं। मनोरंजन के साधनों की यह विभिन्नता प्रत्येक युग और समाज में देखी जा सकती है।

कलात्मकता के आधार पर मनोरंजन के साधनों को मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे साधन आते हैं जिसमें कलात्मकता का अंश मनोरंजन से अधिक

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-28/5
2. वही - लहर-53/29,30,31
3. लखपतिजससिंधु - संपा. डॉ. दयाशंकर शुकल, द्वितीय तरंग -86
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-32/3
5. वही - लहर-32/4

होता है। प्राचीनकाल में कला के रुप में विकसीत यह रुप मध्यकाल तक आते-आते कला और मनोरंजन के संतुलन द्वारा यह समाज के अभिजात्य व ग्राम्य दोनों ही संस्कृतियों का अभिन्न अंग बन गये। इस युद्ध में मल्लयुद्ध, आखेट, चौगान, चौपड़ और द्यूतक्रीड़ा आदि आते हैं। दूसरे वर्ग में वे साधन आते हैं जिनमें कला की अपेक्षा तो होती है परंतु प्रथम वर्ग की तरह सुक्ष्मता की आवश्यकता नहीं होती। अभ्यास से इसमें निपुणता प्राप्त की जा सकती है। नट-बाजीगरों की कलाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। पतंग उड़ाना आदि भी इसी के अंग हैं। तृतीय वर्ग के मनोरंजन के साधन बाल-जगत से संबंधित हैं। इनमें मनोरंजन की भावना प्रधान रहती है, कलात्मकता की गौण। बच्चों के शारीरीक विकास और स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रकृति की गोद या घरों के खुले आंगनों में खेले जाने वाले इन साधनों का महत्व अनुपेक्षणीय है। इनके अंतर्गत आंख-मिचौली, गेडी-दड़ा, गुड़ियों का खेल, चढ़ाचढ़ी, फेर-फुदड़ी आदि खेल आते हैं। भागदौड़ के इन खेलों में मनोरंजन के साथ-साथ शारीरीक क्षमता और स्फूर्ति में बढ़ोतरी होती है। शिशुओं के मनोरंजन के रुप में खिलौनों का प्रचलन प्रत्येक समाज में हैं। चतुर्थ वर्ग में मनोरंजन के वे साधन आते हैं जिनमें कलाएँ एकदम पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। जन साधारण द्वारा अपनाया गया उद्यान क्रीड़ इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में विविध प्रकार के मनोरंजन के साधनों का उल्लेख देखने को मिलता है। उपर्युक्त विवरणों में उल्लेखित सभी प्रकार की मनोरंजन विधि का विस्तृत वर्णन गुजरात के मध्यकालीन कवियों ने किया है।

1. <u>मल्लयुद्ध</u>: यह अत्यन्त प्राचीन कला है। क्षत्रियों में इसका बहुत प्रचलन था। सृष्टि के प्रारंभ में अस्त्र-शस्त्र के अभाव में द्वंद्व युद्ध के आधार पर ही जय-पराजय का निर्णय किया जाता था। 'प्रवीणसागर' में मल्लयुद्ध द्वारा आनंद पाते प्रजाजनों का वर्णन किया गया है -

कबहुं भगल मल कबहुं,

XXXXXXX

कहूं मल्ल खेलें, कहू दंड पेले,[1]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-8/11, 35/17

मध्यकाल में मुगल बादशाहों का दंगल कुश्ती तथा द्वंद्व युद्ध के प्रति विशेष आकर्षण था।[1]

2. <u>आखेट</u> : द्वंद्व युद्ध की भाँति आखेट भी प्राचीनकाल से प्रसिद्ध प्रचलित कला है। प्रारंभ में हिंसक पशुओं से आत्मरक्षा के लिए तथा बाद में मांसाहार की प्राप्ति के लिए इसे अपनाया गया। कालंतर में मनोरंजन का उद्देश्य भी इसके साथ जुड़ गया। सामान्य मनुष्यादि आजीविका के रुप में इसे अपनाता था तो राजन्य वर्ग मनोरंजन के हेतु से। 'कौटिल्य' ने इस कला को राजा के लिए आवश्यक और उपयोगी कला माना है।[2] घने वनों में हाथी, घोड़े पर राजागण आखेट को जाते थे। यह कला शारीरीक बल तथा क्षमता की अपेक्षा रखती है। इसके साथ ही विभिन्न पशुओं के मर्मस्थान का ज्ञान भी आवश्यक है।

'प्रवीणसागर' में स्थान-स्थान पर आखेट वर्णन आया है।[3] 'प्रवीणसागर' के नायक सागर के द्वारा प्रवीण को प्राप्त करने की विविध योजनाएँ बनाने और बाकी समय में मित्रों के साथ शिकार खेलने जाना तथा नृत्यादि देखना मुख्य कार्य बतलाया गया है। राजकुमार सागर बारह वर्ष की अवस्था से शिकार करते थे। उन्होंने आखेट का विधिवत् अभ्यास भी ग्रहण किया था -

भयो बेस द्वादस वरस, आयो चतुर मास.....

.... सुरापान महिंम मगन, याद आखेटक आयो ॥[4]

XXXXX

आखेटक अभ्यास, फैक करवो कोहि दिन ॥[5]

शिकार करने के लिए हाथी और घोड़े की सवारी की जाती थी। साथ में सैनिकों का जथ्था भी रखा जाता था-

दश गय पंच हजार हय, पैदल पंच हजार

रससागर महाराजकों, चढयो सु सहज शिकार ॥[6]

---

1. आईन-ए-अकबरी (भाग-1) - एच. एस. जैरेट (भाग-1), पृ.263

   "इसमें हुमायुँ के बालक अकबर तथा उसके चचेरे भाई मिर्जा कामरान का द्वन्द्वयुद्ध कराने का उल्लेख है। बादशाह के दरबार में ईरानी व तूरानी दो पहलवान नियुक्त थे।"

2. कौटिल्य अर्थशास्त्र - अनु. पं. गंगाप्रसाद शास्त्री, 8/3/50
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-10 संपूर्ण, आखेट के विविध प्रकार इसमें वर्णित हैं।
4. वही - लहर-9/1,2
5. वही - लहर-8/7
6. वही - लहर-9/3

आलोच्यकाल में शिकार खेलने की अनेक रीतियाँ मिलती हैं, जिनमें शिकारी लोग पक्षियों द्वारा, पशुओं द्वारा शिकार किया करते थे। 'प्रवीणसागर' में कितने ही प्रकार के पशु-पक्षी का उल्लेख किया गया है, जिनका उपयोग शिकार करने हेतु किया जाता था-

सागोश श्वान चीते सुसंग, बेहंरि सुबाज जुररा बिहंग ॥
लगरा सुझगर तूरमचि लीन, कूही सुबास कर बासकीन ॥
शकला सुपान मीरहु शिकार,.... ॥ [1]

शिकार के समय राजा अपनी फौज को कुछ भागों में बाँट देता था, और कुछ खास मित्रों को अपने साथ रखता था-

आयशा दीन, दश फौज कीन, खेलें पहार ॥
विधि विचार..... सब लै सिकार ॥[2]

शिकार करनेवाले व्यक्ति के लिए चित्त की स्थिरता अति आवश्यक है और पूर्ण सावधान अवस्था में पैरों की आहट का अनुमान रखने वाले व्यक्ति को शिकार हेतु जाने के लिए योग्य माना गया है।[3]

ग्रंथकार ने शिकार के बनचर (पशु) और खेचर (पक्षी) के अनुसार बारह भेदों का वर्णन किया है। इन बारह भेदों में घेर, गाड, गाडी, नीड, डोर, फंद, मूल, डाव, पशु, पंख, घंट और वेग आदि का उल्लेख किया गया है।[4]

उपर्युक्त क्रम को व्याख्यायित करते हुए ग्रंथकार ने इस प्रकार से समझाया है। बाज व शकरा के द्वारा हिरण को घेरकर किये जानेवाले शिकार को घेर शिकार कहते हैं। पानी के किनारे खाई खोदकर और उसमें बैठकर पानी पीने के लिए आए पशुओं को रास्ता रोककर मारने का नाम गाड शिकार है। एक स्थान पर गढ बाँधकर बैठ जावें, दूसरी तरफ से हांका करके शिकार सामने आवे तो विश्वास कर मारने को गाडी शिकार, भागते हुए पशु को आते देखकर वृक्ष पर चढ़ जावे और जब पशु वृक्ष की छाया में बैठ जावे, तब शस्त्र प्रहार करके शिकार करने का नाम 'नीड' शिकार और साथी की सहायता से वृक्ष की हरी डाली हाथ में लेकर पशु को पास लाकर शिकार करने का नाम 'डोर' शिकार है। चरन व पानी के स्थान पर जाल फैलाकर पशु को हांका कर उसमें

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-9/4
2. वही - लहर-10/7
3. वही - लहर-10/9,10
4. वही - लहर-10/12,13

फंसा कर मारने का नाम 'फंद' शिकार। वेधव वृक्ष के मूल में छिप कर रहना और हांके द्वारा भागकर आए हुए पशु को मारने का नाम 'मूल' शिकार। जानवर के आने जाने के मार्ग में लकड़ी का ऐसा यंत्र बना देना कि उसमें आते ही दबकर पशु मर जावे इसे 'डाव' शिकार। दाव देखकर शिकारी पालतु चित्ता आदि पशु छोड़कर जिस शिकार को पकड़ते या मारते हैं उसे 'पशु' शिकार। बाज आदि शिकारी पक्षियों द्वारा अन्य पक्षियों को पकड़ मँगाना 'पंख' शिकार। रात्रि के समय दीप यंत्र करके और बीन बजाने पर जो पशु आवे उनका शिकार करे उसे 'घंट' शिकार, भागते हुए पशु के पीछे घोड़ा दौड़ाकर चलते हुए वार करके शिकार करने को 'वेग' शिकार कहते हैं।[1]

अन्य प्रकारों में बंसी(कांटा), शस्त्रवेध, जाल और बीनान ये चार जलचरों के शिकार बताये गए हैं।[2] अतः सोलह प्रकार के शिकार का वर्णन मिलता है। शिकार करते समय शिकारी का शिकार हो जाना अर्थात् मृत्यु की शरण में चले जाने के दृष्टान्त भी मिलते हैं। शूरवीर योद्धाओं को महाराज की ओर से इनाम भी मिलते थे।[3] वन में रहनेवाली भील जाति के लोगों द्वारा वन-वृक्षों के रंग से मिलते-जूलते हरे रंग के वस्त्र पहनकर शिकार किया करते थे।[4] जिससे शिकार को उनकी उपस्थिति का ज्ञान न हो सके।

'आइन-ए-अकबरी' से मध्यकालीन भारत में राजाओ, बादशाहों को शिकार का कितना शौक था उसका पता चलता है। मध्यकालीन मुगल सम्राट अकबर जंगली पशुओं शेर[5], चीत्ता[6], या चित्तल, हाथी[7], मृग, मुर्गाबी[8], कुत्ते[9], जंगली भैंसे[10], जंगली गधों का आखेट करने तथा शिकार के नये तरीके निकालने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं।[11]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-10/14
2. वही - लहर-10/15
3. वही - लहर-10/20
4. वही - लहर-43/15,16
5. आईन-ए-अकबरी (भाग-1)- एच. एस. जैरेट पृ.-294
   "शेर का शिकार केवल बादशाह एवं राजकुमार ही कर सकते थे।"
6. वही - पृ.-296-97
7. वही - पृ.-295-96
8. वही - पृ.-301-304
9. वही - पृ.-301
10. वही - पृ.-301-304
11. वही - पृ.-301-304
    "खटका पिटका कर शिकार करने की प्रथा, जो आज भी उत्तरी भारत एवं नेपाल में प्रचलित है, का नाम अकबरने कमारगाह रखा था, जिसमें बादशाह हाथी पर बैठकर शिकार करता था।"

3. <u>नट विद्या</u> : भारतीय प्राचीनतम शारीरीक नियन्त्रण, साधन एवं नृत्य तथआ स्वाँग आदि की कला का नटविद्या उत्तम प्रतीक है। दो बाँसों के ऊपर रस्सी बाँधकर उस पर हाथ में डंडे के सहारे से सन्तुलन करके चलने की विद्या मानो भारतीय नट जाति के रक्त में समा गई है। मध्यकाल में नट लोग बन्दरों के खेल, शारीरिक उछल-कूद से सम्बद्ध क्रीड़ाएँ के खेल दिखाकर भी सामाजिकों का मनोरंजन करते थे।

गुजरात के मध्यकालीन साहित्य में एतद्विषयक उल्लेख मिल जाते हैं। उच्चवर्ग के मनोरंजन हेतु खेल दिखाकर बख्शीश पाना नटों का कार्य था-

कबहुं नट देखत साधन।..... देत रिझवत दान,
बसन धन भूषण वाहन।।[1]

अखा ने नट के स्वाँग का वर्णन किया है-

नट ज्युं स्वांग लावे सबे सो बोली बोलत चाल्य।[2]

नट-विद्या में शारीरिक संतुलन का बड़ा महत्व होता है। 'प्रवीणसागर' में डोर पर चलकर कला दिखाते नट का वर्णन किया है।[3] दादू ने भी नटनी का बाँस पर चढ़कर नाच दिखाने व रस्से पर चलने के कौशल्य का उल्लेख किया है-

नटणी निषि वंसि व्रति चढ़ैं।[4]

उन्होंने नट व नटी का रस्सी पर नाचने तथा अनेक प्राणघातक क्रियाएँ दिखानेवाले तमाशा या इन्द्रजान फैलाने वाले स्त्री या पुरुष (नट) के रुप में चित्रण किया है। नर्तकी के रुप में नकटी का तथा ताल देते हुए नकटे नट का उल्लेख किया है-

नकटी आगै नकटा नाचे, नकटी ताल बजावे ।
नकटी आगे नकटा गावे, नकटी नैं नकटा भावे ।[5]

इस विद्या में सबसे ज्यादा आवश्यकता संयम और स्थिरता की है। इसमें नट लोग अपने जीवन

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री- लहर-8/11
2. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह, समस्या अंग -2
3. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री- लहर-35/17, 60/12
4. दादूदयाल ग्रंथावली- संपा. परशुराम चतुर्वेदी, राग भैरुं-3
5. वही - मन को अंग-56

की बाजी लगा देते हैं, किन्तु जो इसमें सफल नहीं हुआ तो लोग खुश नहीं होते इसलिए अपनी जिंदगी को दाँव पर लगाकर भी नट दर्शकों को खुश करता है। 'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने रुपक के माध्यम से इस बात को स्पष्ट किया है-

डोर प्रवीन चढयो नटवा उन, घातकि बात निघात करी।

.... तो यह बाजि संकेल धरी।। [1]

कभी-कभी यह कला दिखाते समय रस्सी से बंधा बाँस टूट जाता था, किन्तु नट को कुछ नहीं होता था। इस बाँस को ग्रंथकार रुपक के माध्यम से समझाते हैं कि वृत्तिरुपी डौर से बँधा आशारुपी बांस भले ही फट जाये लेकिन प्रवीण में लगा हुआ मन रुपी नट को कुछ नहीं होता-

बांस कटे बंधे बरत, अंबर हे न जमीन।

नटवा चढ़ि उतरत नहीं, कारण कौन प्रवीण।।[2]

अखा ने भी डोर पर चलती नटणी का एकमात्र आधार बाँस बताया है, जिससे वह समतुला बनाये रखती है। इसी प्रकार ब्रह्म को मनुष्य तभी पा सकता है जब वह दृढ़ निर्धार करके ही उस मार्ग पर अग्रसर हो रहा हो-

जैसे दोर चढ़त है नटणी, ताको बांस अधारा,

ब्रह्मखेल कठिन है तैसे, जे चढ़ना निराधारा।।[3]

शुभ अवसरों एवं उत्सवों पर मनोरंजन हेतु नट, नाटक के खेल का प्रचलन था-

नट नाटिक सु समग्र, दीपमाल दिश दिश जगी।[4]

नट और बाजीगर की विद्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों मनोरंजन करके पेट पालते हैं। नट की तरह बाजीगर के वर्णन भी जगह-जगह मिलते हैं-

ज्यूं बाजीगर खेल खेले, सो काठ के नर सिर ठोक देवें, ।[5]

XXXXX

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-57/21
2. वही - लहर-59/30
3. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह, भजन-23
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-55/10
5. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह, झूलणा-71

ख्याल करे खल्कत में सुं। ज्युं छाँय खेड़े में नट बाजी।[1]

'प्रवीणसागर' में भी बाजीगर के खेल तमाशे का उल्लेख किया गया है।[2] अन्य एक वर्णन में बाजीगर और उसके साधन डमरु का उल्लेख मिलता है। ग्रंथकार ने मेघ को बाजीगर और मेघ की गर्जना को बाजीगर के डमरु की उपमा देते हुए जीव के पकड़े जाने की बात कही है-

पावस बाजीगर प्रबल, डोरुं गाज अवाज।

बिरही मन बदलत बटा, जिय कपोत ग्रह बाज।। [3]

अखा ने भी बाजीगर का उल्लेख किया है-

तुँ धूरत! ताहे मेरा रे! तूँ बाजीगर! हुँ चेरा रे![4]

दादू के काव्य में भी एतद्विषयक उल्लेख मिलते हैं-

बाजीगर की पूतली ज्यौं प्रकट मौध्या।

दादू माया राम की, सब जगत वियोगा।।[5]

'प्रवीणसागर' में एक स्थान पर मदारी के बंदर का उल्लेख किया गया है। जो मदारी द्वारा पकड़े जाने पर उसकी लकड़ी की चोटें सहन करता हुआ उसके साथ द्वार-द्वार घुमता है-

ग्रहंत कुंभ शुंभ होय कीश मूठ ना खुले,

सहंत मुंड दंड मार द्वार द्वार पे डुले।[6]

दादू ने भी बाजीगर के बंदर की बात कहीं है-

दादू डोरी हरि के हाथि है, गल माँहै मेरे।

बाजीगर का बांदरा, भावे तहाँ फेरे।[7]

4. <u>शतरंज</u> : अखा के काव्य में शतरंज विषयक उल्लेख मिलते हैं, जिससे तत्कालीन समय में उसके प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है-

---

1. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह - झूलणा-67
2. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-27/11
3. वही - लहर-39/19
4. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह - जकड़ी-7 आतुरता को अंग-29
5. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी-माया कौ अंग-108
6. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री-लहर-47/4
7. दादूदयाल ग्रंथावली- संपा. परशुराम चतुर्वेदी - सम्रथाई कौ अंग-16

सांईयाँ खेलारा खेल का कोई भेदू सेंती खेल।

और सबे सेतरंज भेदू सदा है बेल।।[1]

उसको खेलनेवाले जब हार जाते हैं तो उनका बेहाल होना वर्णित किया गया है-

खाली होकर देख ले, सब खालिक के ख्याल।

अखा जे लागे खेलने, सोई होय बेहाल।[2]

5. चौसर : इसे चौपड़ भी कहा जाता है। धनी तथा निर्धन समान रुप से इसे खेल सकते हैं। आज भी घरों में खेला जाने वाले मनोरंजन का यह प्रमुख साधन है। कपड़े की बिसात बिछाकर पासों और गोटों की सहायता से इसे खेला जाता है।

विविध लोककथाओं में राजकुमारियों के सार-पासे खेलने में दक्ष होने का तथ्य हम प्रायः सुनते ही आये हैं। 'प्रवीणसागर' में भी एतद्विषयक उल्लेख मिलते हैं। ग्रंथकार ने चित्तरुपी चोसर की बाजी और ध्यानरुपी गोटे से प्रेमरुपी पासा डालने का वर्णन किया है-

चौसर मांडे चिंतकी, सुरत फिरावें सार।

पासो डारे प्रेमको, जीते जीतनहार।। [3]

अन्य एक वर्णन में प्रवीण को चौसर खेलते प्रदर्शित किया गया है-

पाटकि प्रास दुहू निखियाँ।[4]

6. जुआ : प्राचीन समाज में ही नहीं, आधुनिक समाज में भी जुआ मनोरंजन का प्रमुख साधन है। भारत में इसकी काफी प्राचीन परम्परा रही है। भारत में सदियों से जुआ अमीर-गरीब सभी वर्गो के लोगों के मनोरंजन का साधन रहा है।[5]

---

1. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह - शब्द परीक्षा अंग-10
2. वही - शब्द परीक्षा अंग-14
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-29/13
4. वही - लहर-51/16
5. इंडियन ट्रेवल (थैवनोवेट) - संपा.सुरेन्द्रनाथ सेन- पृ. 67
   "उन्होंने दिल्ली और बनारस के बनियों के विषय में विशेषरुप से जुआ इस हद तक खेलना का उल्लेख किया है कि जुए में वे अपना धन-दौलत, घरबार, स्त्री तथा बच्चे भी बाजी में हार गए।"

मध्यकालीन संत कवि दादू ने जुए का जीवन की बाजी के रुप में वर्णन किया है। सन्त दादूदयाल संसार रुपी जुए की बाजी को परमेश्वर रुपी जुआरी के खेलने का उल्लेख करते हैं। वह अनोखा जुआरी संसार की जुए की बाजी खेलता हुआ भी उसकी हारजीत में लिप्त नहीं होता ,(किन्तु साधारण जनों को यदि बाजी की हार-जीत का खेलने से पहले ही पता चल जाए तो वह बाजी ही क्यों खेले)-

दादू जुवा षेले ज़ांण राई, ताकूं लषे न कोइ।

सब जग बैठा जीति करि, काहू लिपति न होइ॥[1]

7. <u>पतंग उड़ाना</u> : पतंग प्रत्येक आयु और प्रत्येक वर्ग के मनोरंजन का साधन बनी हुई है। आज तो पूरे गुजरात भर में इसको मकरसंक्रांति के रुप में मनाते हैं और पतंग महोत्सव एवं प्रतियोगिताएँ भी आयोजन किये जाते हैं।

मध्यकाल में भी इसके प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं। 'प्रवीणसागर' में एक स्थान पर पतंग, उसे उडाने की रीति और उसे उड़ाने के लिए जरुरी सामग्री का रुपक के माध्यम से वर्णन आया है। ग्रंथकार ने नेत्र रुपी हाथ से पतंग को उड़ाया है, जिसमें प्रीतिरुपी चंग निरन्तर बजता ही रहता है, उसमें वियोगरुपी हवा से झकझोर लेता है, वह कटता भी नहीं, प्रवीणरुपी डोरी से उड़ रहा है-

चिंत गुड़ी चो उडयोइ रहे, पकरें कर नैनन की बरजोरी।

.... प्राण को पत्र प्रवीण की डोरी॥[2]

दादू ने भी अप्रस्तुत विधान द्वारा गुड़ी (पतंग) उड़ाने का उल्लेख किया है। उन्होंने मन को कागज की गुडी की उपमा देते हुए उसके ऊँची उड़ान भरने तथा प्रेमजल से भीग वास्तविकता को प्राप्त करने का उल्लेख किया है। वस्तुतः वे मन को पतंग के समान चंचल बताते हैं -

यहु मन कागद की गुड़ी, ऊडि चढ़ि आकाश,

दादू भीगे प्रेमजल, तब आइ रहै हम पास॥[3]

---

1. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी - साषीभूत कौ अंग-5
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-36/7
3. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी - मन कौ अंग-15

'प्रवीणसागर' में अन्य एक वर्णन में चंदनारुपी चुभी के पास हरे रंग के पतंगे को उड़ते बताया है-

चुनियाँ ढिग नाल पतंग चढ़ी।[1]

अखा के काव्य में भी इसका वर्णन मिलता है-

काल फना हो ज़ायगा जैसा रंग पतंग।[2]

इससे स्पष्ट है कि मध्यकाल में आज की तरह पतंगबाजी मनोरंजन का प्रमुख साधन थी। 'राजस्थानी रनिवास' का वर्णन करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने भी, इसे अंतःपुरिकाओं के मनो-विनोद का प्रमुख साधन बताया है, तथा अभिमत व्यक्त किया है कि पतंगे उड़ाने के लिए चाँदी के तार खिंचवा लिये जाते थे, जिससे वे कट न सकें।[3]

8. <u>गुड्डियों से खेलना</u> : यह कला के रुप में विकसित प्राचीनतम खेल है। शिशु को बहलाने के लिए विभिन्न प्रकार के खिलौनों का निर्माण प्रत्येक समाज में होता है। प्रत्येक वर्ग अपनी आर्थिक स्थिति के आधार पर यह खिलौने अपने शिशु को उपलब्ध कराता है, इसलिए इसकी माँग सदैव बनी रहती है।

मध्यकालीन संत कवियोंने गरीब वर्ग के खिलौने से खेलने की वस्तुओं पर प्रकाश डाला है। संत कवि दादू ने गुड़ियों के खेल का वर्णन किया है। उन्हों ने शरीर को कागज की गुड़िया बताया है-

बैर बेर समझायो रे जियरा... यह तनु कागद की गुड़िया,

कछु एक चेत बिचारे।[4]

जबकि अखा ने घरों में बालकों को चिथड़ों की गुड़ियों से खेलते चित्रत किया है-

छोकरियाँ ढींगलियाँ खेलें।

.... गुड़ियाँ को पहिनावे गहैनाँ।[5]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-20/30
2. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह -तपास अंग-5
3. दे. राजस्थानी रनिवास - पृ.-55
4. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी - मन कौ अंग-32
5. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह - जकड़ी-31

9. <u>गेड़ी-दड़ा</u> : इसमें गेंद को चौगान से मारा जाता था। चौगान एक लंबा डंडा होता है, जो सिरे से मुडा होता है। बालकों का यह खेल सम्भवतः गुल्ली डंडे का मूल रुप था। संत कवि छोटम ने अप्रस्तुत विधान से इस खेल के प्रचलन की जानकारी दी है-

तो कूं ठगे इश्वरी माया, वारवार सो मार खाते हैं,

ज्यूं गेड़ी से दडा, के तेरा तन तंबुरा बड़ा।[1]

10. <u>चकडोरि घूमना (फेर फूंदड़ी)</u> : इसमें दो बच्चों का एक दूसरे के दोनों हाथ को पकडकर फूंदडी (चक्कर) की तरह चक्कर काटकर घूमने से ही रहा होगा ऐसा प्रतीत होता है-

फूंदड़ी खाते फेर घणेरा । सबको दीसे फरता फेरा।

फूंदड़ी खाते..... ।[2]

आमोद-प्रमोद के इन साधनों के अतिरिक्त सामान्य वर्ग में प्रचलित नाटक, भवाई आदि के खेल के उदाहरण भी मिल जाते हैं। गुजरात के मध्यकालीन सन्त कवियों की रचनाओं में एतद्विषयक उल्लेख प्राप्त होते हैं -

सदा सर्वदा नाटक माया, नाट्य चले देखे परब्रह्म राया,
सो सब अपने शिर जंता,तातें न आवहीं जीव को अंता ।[3]

X X X X X X

भल कलिजुग में भांड भवैया.... ।[4]
भाड भवाई भाम्यनी ताहाँ तेरा तो थाय।
गुण सुणसां गोविंदना उंघे के उठी जाय ।।[5]

X X X X X X

ऐसो रमन चाल्यो नित्य रासा, प्रकृति पुरुष को विविध विलासा, ...[6]

जबकि संगीत, नृत्य शिष्ट समाज का सर्वाधिक समाहत मनोरंजन का साधन है, तत्कालीन राजन्य संस्कृति के प्रभाव स्वरुप उसका विशद् वर्णन मिलता है।

---

1. गुजरात के हिन्दी सन्तों की वाणी-डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 333
2. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह - जकड़ी-25
3. वही - ब्रह्मलिला, पद-5
4. गुजरात के हिन्दी सन्तों की वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर - पृ. 315
5. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह - अधम अंग-13
6. वही - ब्रह्मलिला, पद-4

'प्रवीणसागर' में संगीत के शास्त्रीय ज्ञान की चर्चा लहर-17,18,19 में विशेष रुप से की गयी है। अन्य एक स्थान पर संगीत की चर्चा के प्रसंग में ग्रंथकार ने छत्तीस प्रकार के वाद्य-यंत्रों का उल्लेख किया है, इनके अतिरिक्त झालर, नगाड़ा, तासा आदि यंत्रों के नाम भी मिलते हैं।[1]

प्रवीणसागर में नृत्य के द्वारा मनोरंजन प्राप्त करने का वर्णन भी हुआ है। ग्रंथकार ने नृत्य करने में पूरी तरह से दक्ष दो वारंगनाओं का वर्णन किया है, जो नृत्य द्वारा मनोरंजनार्थ एक-से दूसरे देश घूमती हैं, वह कविता करने में भी दक्ष बतायी गयी हैं।[2]

अन्य मनोविनोदों में ऐन्द्रजालिक खेल, नृत्यगान, हाथी देखना, घोड़े फेरना, चौक बनाकर शस्त्रकला दिखाना, बाणों की स्पर्धा, तोते पढाना, मैना पढ़ाना आदि को देखते मनुष्यों का वर्णन किया है।[3]

11. <u>उद्यान क्रीड़ा</u> : उद्यानों या बागों या कुंजों में विहार भी तत्कालीन समाज में मनोरंजन का एक साधन था। इस भ्रमण अथवा विहार में किसी प्रकार की कला नहीं थी परंतु उद्यानों तथा कुंजों के निर्माण में कल्पना और कलात्मकता का अंश देखा जा सकता है।

एतद्विषयक वर्णनों में बाग विहार के साथ-साथ बारात को ठहराने के रुप में उपयोगी था। 'प्रवीणसागर' में राजकुमार रससागर को सेनासहित नवरंग नामक बाग में मुकाम करते तथा अन्य एक स्थान पर रससागर की बारात को अनंन्त वन जैसे बाग में ठहराने का वर्णन किया गया है -

राजा निकट आराम, नाम नवरंग बाग जिहि।[4]

x x x x x x

सांझ भये लगि नीठ विलंबित बाग से।[5]

इस अनन्त वन जैसे बाग में एक महल है, उत्तम वृक्षों के कुंज से ढँका हुआ है। बीच में प्रत्येक चौक पर फव्वारे लगाये जाने का उल्लेख किया है-

---

1. प्रवीणसागर- संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-12/10, 4/19
2. वही - लहर-17/1 से 6
3. वही -लहर-35/17
4. वही -लहर-14/11
5. वही -लहर-15/16

नग्र द्वार के नीठ, बाग संग्राम सैन शुभ।

वन अनंत बिच महल, कुंज गिरदी जोजन उभ।।

.... चौंक २ जल जंत्र, केकी पिक कुंजत ।। [1]

अन्य एक स्थान पर कुंज वाटिका में सैर करने, घूमते हुए फव्वारों के पानी का आनंद लेते लोगों का उल्लेख किया गया है-

विपन कुंज वाटिका, फिरत जलजंत्र फुहरान । [2]

मित्रों के साथ मनोरंजन हेतु जाने और गुप्त बातें करने के लिए बाग को आदर्श स्थान माना जाता था।[3]

उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट है कि गुजरात के मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में किए गये वर्णन से मनोरंजन की अनेक विधियों के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। मनोरंजन के साधनों में बालकों से लेकर वृद्धों तक का मनोरंजन हो सके इस प्रकार की विविधता के दर्शन होते हैं। इनमें से कई प्रकार के मनोरंजन के साधन आज वर्तमान युग मे भी ज्यों के त्यों प्राप्त हैं, और आज के यांत्रिक युग में इस प्रकार के मनोरंजन एवं मनोविनोद का सुख पाने एवं दुख को भुलाने का एकमात्र साधन रहे हैं। जहाँ तक तत्कालीन कवियों का प्रश्न है, उनमें से अधिकांश संत-भक्त कवि रहे हैं फिर भी वह अपने समाज से कटे नहीं थे, उन्होंने प्रत्यक्ष न सही, परोक्ष रुप से या सदृश्य विधान के लिए भी मनोरंजन के विविध साधनों, रीतियों और प्रकारों का यथा सम्भव उल्लेख किया है। उससे तत्कालीन समाज में इनकी स्थिति पर समुचित प्रकाश पडता है, जिसका यथासम्भव समाकलन करने का प्रयास किया गया है।

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-15/17
2. वही - लहर-16/18
3. वही - लहर-21/7,8

(इ) समाज की वैचारिक स्थिति :

मध्यकालीन इतिहास, समाज, संस्कृति की पृष्ठ-भूमि में हमें देखना चाहिए कि तत्कालीन रचनाओं में समाज-संस्कृति का प्रक्षेपण किस प्रकार हुआ है और कवियों की सामाजिक अभिव्यक्ति की मूल बनावट क्या है। रचना समाज-सापेक्ष होती है और इतिहास के सामाजिक दबाव इसे रुपापित करते हैं। यदि कोई स्वर इतिहास से विपरीत दिशा में जाने की चेष्टा करता है तो रचनाप्रवाह में उसकी अहमियत नहीं होती और वह शीघ्र ही समाज से अलग-थलग पड़कर समाप्त हो जाता है। मध्यकाल में रचना अनेक दिशाओं में सक्रिय हुई और क्योंकि जहाँ एक ओर शासकों तथा सामंती अभिजात वर्ग द्वारा निर्मित स्थापत्य शिल्प है, तो दूसरी ओर रचना के क्षेत्र की वे उपलब्धियाँ भी हैं, जिनमें सामान्य जन के संवेदन उपस्थित हैं। प्रायः यह कार्य रचनाशीलता का यह उदात्त तत्व सन्तों के काव्य में विशेष रुप से देखने को मिला है। सन्तों ने मध्यकालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों को देखा, अनुभव किया था। उन्होंने उसे मिटाने का प्रयास किया। एक ऐसा देश जहाँ यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः कहकर नारी को समाज में विशेष स्थान दिया गया था, उसी नारी को माया ठगिनी, दुःख की खान कहकर निराहत किया गया। उन्होंने देखा कि सामाजिक-पारिवारिक जीवन की धुरी नारी का ही समाज में कोई स्थान नहीं है, मध्यकाल में तो उनकी दशा अत्यंत खराब हो गयी थी। उन्हें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। नियन्त्रण में रहना पड़ता था। पुत्री के रुप में पिता, पत्नी के रुप में पति तथा विधवा के रुप में पुत्र का संरक्षण ही उनका एकमात्र आधार था। हिन्दुओं में पुत्री का जन्म होना भी शुभ नहीं माना जाता था, कुछ लोगों में तो पुत्री को पैदा होते ही मार डालने की प्रथा थी।

तत्कालीन समय में स्त्री का प्रमुख आदर्श पति की सेवा करना था। यदि वह पुत्र जन्म देती तो भाग्यशालिनी समझी जाती थी। उसका मुख्य कार्य गृह को शुद्ध एवं पवित्र रखना था। स्त्रियों को अन्य भी कई उपेक्षाओं को सहना पड़ता था। भारतवर्ष में वेश्याओं तथा गणिकाओं का प्रचलन प्राचीनकाल से था। कुछ क्षेत्रों में पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा का भी प्रचलन था। मुसलमानों के भय से बाल-विवाह का आरंभ भी हो गया था। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचलन अधिक न था, उच्च वर्ग की (राजन्य वर्ग) की स्त्रियों में थोड़ा-बहुत प्रचलन जरुर था। संक्षेप में कह

सकते हैं कि मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी।

मध्यकालीन कवियों ने विशेष रुप से सन्तों की काव्य चेतना, सामाजिक चेतना के निरुपण में नारी भावना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सन्त कवियों ने स्त्रियों के लिए किए गये नियन्त्रण का विरोध किया। सती-प्रथा, बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, दहेज-प्रथा आदि के प्रति उन्होंने जोरदार विरोध प्रकट किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत पतिव्रता नारी की खूब सराहना भी की, वह भारतीय नारी के पारिवारिक एवं नैतिक मान तथा गौरव का परिचायक है। आत्म-समर्पण की भावना पुरुषों से ज्यादा नारी में अधिक होती है। नारी के इस गुण को सन्त कवियों ने उभारा है। जहाँ उन्होंने उसके पतिव्रता रुप की प्रशंसा की है, वहीं उसके कामिनी रुप की कठोर निन्दा भी की है। सन्त-कवियों के अधिकांश नारि-चित्रणों में निन्दा तथा भर्त्सना का स्वर ज्यादा मुखरित हुआ है, लेकिन उसे हम सिर्फ परम्परानुमोदन ही कह सकते हैं क्योंकि आलोच्यकालीन सन्त-कवियों की रचनाओं में उपलब्ध नारी विषयक कथनों में नारी निंदा से संबंधित उक्तियाँ हमारे प्राचीन शास्त्रों की परम्परा का अनुवाद ही है और इसी परम्परा को सन्त कवियों ने निभाया है। यह नारी निन्दा से सम्बन्धित उक्तियाँ अधिकांश कवियों में समान रुप से पाई जाती है। इस संबंध में डॉ.नगेन्द्र का मत ध्यातव्य है, "क्योंकि तुलसीदास के काव्य में भी नारी-निन्दा विषयक उक्तियाँ बहुत हैं। लेकिन यह दोहे सामान्य उक्तियों के रुप में कहे गए हैं। उनके द्वारा मानस में की गई खल नारियों की चारित्रिक अभिव्यक्ति में नारी निन्दक उक्तियाँ लागू नहीं होती हैं। वह प्रायः लोकोक्तियों अथवा शास्त्रोक्तियों के रुप में कही गई हैं।"[1]

i) **तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति** : गुजरात के मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में प्रस्तुत नारी विषयक चिन्तन को हम प्रमुख दो भागों में बाँट सकते हैं।

1. आदर्श स्वरुपा 2. बाधक स्वरुपा।

---

1. विचार और विश्लेषण - पृ. 43,46 विशेष दृष्टव्य के लिए देखें।
डॉ. नगेन्द्र तुलसी को उनकी कृतियों के आधार पर नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य, बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निन्दा करने वाला मानते हैं तो साथ ही स्वीकारते हैं कि वास्तव में तुलसी द्वारा कहीं कटूक्तियाँ उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति-वचनों का सीधा अनुवाद है।

आदर्श स्वरुपा नारी के अन्तर्गत सती, पतिव्रता, स्वकीया स्त्रियों का समावेश है, जबकि बाधक स्वरुपा के अन्तर्गत असत् नारी, कामिनी, व्याभिचारिणी, कुलटा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। दादू और अखा जैसे सन्तों ने खासकर नारी के पतिव्रता धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। उनकी दृष्टि से पतिव्रता नारी लौकिक दृष्टि से सामाजिक शील की प्रतिनिधि है। जबकि दूसरी ओर प्रीतमदास और निर्वाणसाहब जैसे सन्तों ने नारी के असत् स्वरुप को ज्यादा उभारा है।

अधिकांश सन्तों ने नारी को अध्यात्म के पथ पर बाधा माना है। गुजरात के भक्त कवि नरसिंह महेता ने अपनी पत्नी की मृत्यु पर तनिक भी खेद प्रकट नहीं किया अपित भगवत भजन की बाधा दूर होने का कारण बताया-

भलु थयुं भांगी जंजाल,

सुखे भजसुं श्री गोपाल।[1]

प्रीतमदास ने भी नारी को परमेश्वर के पथ की बाधा माना है -

परमेश्वर के पथ में नारी डर चौपास,

कहे प्रीतम अध बीच से, उडावे आकाश।[2]

कामिनी रुप : कंचन और कामिनी की घोर निन्दा प्राचीन काल से परम्परा के रुप में चली आ रही है। इस परम्परा का श्रीगणेश प्रायः सिद्धों के समय से देखा जाता है। सिद्धों से प्रारंभ होकर जैन तथा नाथ कवियों के साहित्य में परिपोषित यह परम्परा उत्तर भारत तथा गुजरात के सन्तों में समान रुप से दिखायी देती है।

निर्वाण साहब ने कनक और कामिनी नारी को देखकर मन का इसको प्राप्त करने को ललचाना बताया है, किन्तु वे उन मनुष्यों को कैसे समझायें कि यह जो तुम सोच रहे हो, वह

---

1. हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान (डॉ. अम्बाशंकर नागर अभिनन्दन ग्रंथ) - संपा. डॉ. रामकुमार गुप्त, पृ. 234
2. प्रीतमदास की वाणी - अखंडानंद भिक्षु, पृ. 135

नहीं है, यह वह विष है, जिससे मृत्यु के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता-

कनक कामिनी देख के, मन माहि ललचाय,

वावरे ये ही विषफल, कैसे कहु समझाय ॥ [1]

कवि का कहना है कि लोगों को इस विषफल से दूर रहना चाहिए।

प्रीतमदास ने भी नारी के कामिनी रुप को हेय माना है। परिवार में, समाज में, व्यक्ति के जीवन में नारी का स्थान गौरवपूर्ण और महत्व का है। अतः नारी की स्थिति और उसकी समस्याएँ विचारशील समाज की चिन्ता का आवश्यक विषय है। प्रीतमदास नारी की तुलना उस नागिन से करते हैं, जो नर को मेढ़क की तरह निगल लेती है। वे कहते हैं कि नारी के कमनीय रुप की आड़ में नागिन का स्वरुप छिपा होने के कारण वह त्याज्य है-

नारी नहीं ए नागिणी, नर मेढ़क निरधार ।

कहे प्रीतम के ते ग्रसे, लेखा नहीं लगार ॥[2]

'प्रवीणसागर' में भी ग्रंथकार ने स्त्री को काली नागिन की उपमा दी है, जो देखने में कीच की खान है। उससे मन को दूर रखने की बात कही गई है -

असित अपार महा, सर्पाकार बेनी तांको,.....

.....दूषिका की खानि द्रग, ... मोह मन लात हो ॥ [3]

अन्य वर्णन में कामिनी स्वरुप नारी को विष के समान प्रभाव रखने वाली, जो बोलने में सीधी किन्तु कपट से भरपूर रति के गुणवाली होती है, और देखते ही पुरुष का मनहरण कर लेती है -

उपरसें अभिराम लसे पुनि, अंदर से विष प्राय प्रभाये।

..... बोलन में बहु सीधि.... चितमांहि लुभाये ॥ [4]

एक अन्य स्थान पर ग्रंथकार कामिनी नारी के गुणों को बताते हैं - अमृत समान वाणी

---

1. संत निर्वाणसाहब - माणेकलाल राणा - पृ. 492
2. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 209
3. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-78/23
4. वही - लहर-78/20

बोलनेवाली, रति की लालच करनेवाली, शरीर सौंदर्य से छलनेवाली, परंतु खुद किसी बन्धन में नहीं बंधने वाली होती है।[1] सन्त कवि निर्वाणसाहब ने भी कामिनी नारी की निन्दा की है। वे कहते हैं समाज में ऐसी नारियों का स्थान निम्न स्तर का होता है। धृष्ट प्रकार की नारी की संगत करने पर आत्मा को गति नहीं मिलती है क्योंकि सर्प जैसा क्रूर जीव कामिनी नारी की छाया पड़ने पर अंधा हो जाता है तो मानव की गति क्या होगी जो नित्य इस प्रवृत्ति वाली स्त्रियों की संगत करता है-

यही नारी की छांय में, अंधे होय भुजंग,

गाफिल तेरी कोन गत, नित नारी के संग। [2]

कामिनी नार अध्यात्म पथ में भी बाधक बनती है, क्योंकि वह भक्ति, मुक्ति और ज्ञान इन तीनों गुणों के बीच बाधक है, इन गुणों के द्वारा इश्वर प्राप्ति की जा सकती है, उसका वह नाश करती है -

भक्ति, मुक्ति अरु ध्यान, नसावे तीन गुण नारी ॥ [3]

सन्त कवि दादू ने भी नारी को कहीं कामिनी, कहीं भामिनी, कहीं मोहिनी कहकर उसके इन रुपों की भर्त्सना की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो नारी अपने प्रिय की सेवा नहीं करती है, और पर पुरुष में रत रहती है, त्याज्य है-

दादू तजि भरतार कूं पर पुरिषा रत होइ ।

ऐसी सेवा सब करै, कांमणगारी सोइ ।। [4]

ऐसी नारी पुरुष को मुग्ध करके माया-गृह के कूप में डालती है-

दादू बूड़ि रह्या मुवो रे वापुरे, माया गृह के कूप ।

मोहया कनक अरु कांमनि, नाना विधि के रुप।। [5]

प्रीतमदास ने नारी निन्दा के परम्परागत रुप वर्णन में नारी को नरक की खान माना है -

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-78/16, 78/17
2. संत निर्वाण साहब - माणेकलाल राणा - पृ. 852
3. वही - पृ. 852
4. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, निह क्रमी पतिव्रता को अंग-49
5. वही - माया कौ अंग-12

नारी नरक की खाण है, शास्त्र कहे सब कोय ।

कहे प्रीतम प्रभु भजन से, परम पवित्र होय ॥[1]

उन्होंने नारी को निर्दय एवं कठोर कृपाण की तरह बताया है, जो नर को काटने में तनिक भी विलंब नहीं करती-

नारी निर्दय कठोर अति, कठण कृपाण की धार।

कहे प्रतीम नर काटता, कछु न लागे वार ॥[2]

प्रीतमदास ने नारी के मोहिनी रुप को दादू की तरह माया रुप बतलाते हुए दानव, मानव और भूपों को मोहित करनेवाला कहा है -

हार की माया मोहिनी..... दानव मानव भूप।[3]

वे कहते हैं कि नारी हावभाव दिखाकर नर को अनुरक्त करती है और फिर मौका देखकर मूषक रुपी नर को स्वयं मार्जारी बनाकर खा जाती है-

लालच लोभ दिखांवहि, अति उपजावे भाव ।

कहे प्रतीम ज्यूं मुषक पर, मीनी मांडे दाव ॥[4]

संत कवि अखा ने नित नये साज श्रृंगार करके भटकती और अंग प्रदर्शन करती नारी की निन्दा की है-

चले सहीओ मां हरती फरती । ल्हावा ले पण लूखी रे।

आधा अंग देखाये लोका । भोग विना रहे भूखी रे। [5]

ऐसी नारियाँ न केवल स्वयं को वरन् संबंधित पुरुषों को भी हरि भक्ति से विमुख करती हैं। इस प्रकार के खेल करनेवाली कई नारियों पर लोगों को दया आ जाती है, किन्तु कवि के मतानुसार वह उसका रंग दिखाती ही है-

चले दोहागन रोती नारी । सबको कहे वे अनाथ बिचारी ।

सो दुनियाँ को भावे भारी । .... सो क्यौं न करे चाहे तेती ।

क्या लोकों की परवा एती? [6]

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 209
2. वही - पृ. 209
3. वही - पृ. 209
4. वही- पृ. 209
5. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, जकडी-32
6. वही - जकड़ी-37

सन्त कवि वस्ता विश्वम्भर ने भी ऐसी असत् नारी से दूर रहने की बात कही है। वह शणगार सजके आकर्षित करके पुरुष को भी नर्कागार में ले जाती है, इसलिए समझदार नर उससे दूर रहता है-

अणगमती नारी कु स्वामी न लगावे अंग,
शणगार सजे आपसु उलटा बगाड़े रंग॥ [1]

वस्तुतः वस्ता का संकेत स्त्री की सद्भावना गुणवत्ता को जाग्रत करना है, क्योंकि एक गुणवंती स्त्री ही अपने पति को सत्कार्य के लिए प्रेरित कर सकती है।

व्याभिचारिणी रुप : व्याभिचारिणी के स्वभाव की निन्दा विशेष रुप में गुजरात के कवियों ने की है। समाज का वातावरण स्वस्थ रहे इसलिए कुल्टा, व्याभिचारिणी स्त्री का समाज से बहिष्कार होना ही श्रेयस्कर है।

'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने नारी निन्दा के प्रसंग में ऐसी व्याभिचारिणी स्त्री के स्वभाव का वर्णन किया है। वह समुद्र की तरंगों के समान चंचल, रंग बदलनेवाली, एक को छोड़कर दूसरे पर अनुरक्त होनेवाली होती है-

वारिधि वीचि समानहि चंचल, जाहि स्वभाव विराजि रहै है।
सांध्य पयोधर के रंग से मन, राग धरी तजि और गहै है ।
..... छोह धरि किमि चित्त चहै है। [2]

अन्य एक वर्णन में ग्रंथकार ने ऐसी व्याभिचारिणी नारी की स्वभावगत विशेषताओं को बताया है - एक के साथ बात करती है, दूसरे को नेत्र से देखती है प्रेम भरकर, तीसरे का चित्त में चिन्तन करती है, चौथे को इशारे से समझाकर हरती है, पॉचवें को मिलने का संकेत करती है, तौ छठे के साथ शैया पर जाकर सोती है -

एक अंग बात करे, उर में उमंग धरी, दूसरे कों देखे द्रग, छोह शुभ लाइकें।
तीसरे को चिंतवन, चित्त में करत पुनि, चातुर को चित्त हरे, शाने समुझाइकें।

---

1. वस्ताना पदो - संपा. डॉ. सुरेश जोशी - मिथ्या ज्ञानी साखी-7
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-78/15

पांचमे पे प्रेम थरी, सुरत संकेत करे, सोवत हे शय्या पर, षष्टे संग जाइकें।[1]

अखा ने भी ऐसी कुलटा नारी, जो प्रिय को समर्पित अपने शरीर को जार की सेवा में प्रस्तुत करती है, की निन्दा की है-

जे कोई दुरमति जीवकु हरीसुन मीलत हेत ।
जैसे कुलटा काम्यनी पती तन जारे देत ॥
XXXXXX
ज्ञान कथे चीत ना घटे तो तत्व न लागे भोग ।
ज्युं छाया नेत्रे फिरी गई सो नहीं देखण जोग।[2]

उन्होंने इसके साथ-साथ पुंश्चती, निर्धना नारी का भी चित्रण किया है-

मुख प्यारो माहाराज और दिल प्यारो दाम।
ज्यो कुलटा प्यारो स्नेही और प्रगट पीउ के नाम। [3]
XXXXXX
एक पलक न मारे पीउ विना, जो मिल्या होय नावसु सो नेह।
ए तो पुंश्चली तन बार फिरे अखा दे दुर्जनकु देह ॥[4]
XXXXXX
आत्मज्ञान उपज्या उपज्या बिना माया मांनी सांच ।
ज्यों निरधन की नारी, अखा सजी कथीरां कांच॥ [5]

सन्त कवि दादू ने भी व्याभिचारिणी स्त्री की निन्दा की है-

करामति कलंक है, जांके हद में एक ।
अति आनंद विभाचारिणी, चाके खसम अनेक॥[6]

व्याभिचारिणी की दशा का निरुपण करते हुए सन्त कवि ज्ञानीजी कहते हैं कि वह बिलखती हुई घुमती है परंतु उसकी गुहार सुननेवाला कोई नहीं होता, क्योंकि वह समाज के नियमों में खरी नहीं उतरती अतः वह असत् नारी के रुप में जानी जाती है। उसके कथनों का कोई विश्वास नहीं करता-

व्याभिचारिणी विलखत फिरे। कहे एक की चार ।
ग्यानी सो क्यों चित्त धरे। महैली माथे मार ॥[7]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-78/21
2. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह - दुर्मति अंग-1, निष्ट ज्ञान अंग-3
3. वही - निन्दक अंग-2
4. वही - खल ज्ञानी को अंग-8
5. वही - आत्म ज्ञान को अंग-1
6. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, निह क्रमी पतिव्रता कौ अंग-51
7. मध्यकालीन हिन्दी-गुजराती साखी साहित्य-डॉ. रानु मुखर्जी- पृ.158 से उद्धृत

वस्तुतः सन्त कवियों को पता था कि समाज से इस प्रकार के व्याभिचार को नहीं मिटाया जायेगा, तब तक मनुष्य मात्र का उद्धार असंभव है। इसलिए उन्होंने चारित्र्य शुद्धि को अति आवश्यक माना है । सौराष्ट के रविसाहब ने भी अपनी रचनाओं में नारी के व्याभिचारिणी रुप का खण्डन किया है । उन्होंने भी सन्त कवि ज्ञानीजी की तरह अपना मत व्यक्त किया है कि व्याभिचारिणी को समाज में कोई स्थान नहीं मिलता, वह इधर-से-उधर भटकती रहती है -

भग्या कलेजे छेद गुरांका, वेदन जाणे इ बातुं ।
व्याभिचारिणी हींडे वलखती, अणलेखे खावे लातुं ॥ [1]

वे कहते है कि ऐसी स्त्री समाज में निंदा का ही पात्र बनती है, क्योंकि स्त्रीत्व के प्रति अनाचार और भकित की उपेक्षा की भावना से नारी. समाज में अनाद्रृत हो जाती है -

भकित बिना रवीदास कहे, नारी नंदीक होय,
व्याभिचारण वीचलेते, मन करी कमाणी बोय ॥[2]

नारी को विविध रुपों का अंकन गुजरात के मध्यकालीन कवियों ने किया है, तथा उनको निन्दनीय आचार व्यवहार की घोर निन्दा की है । विशेषतः पुरुष मनोहर निरखहि नारी को असामाजिक माना है । दादी की करामती कलंक है जाके खसम अनेक साखी में भी यही भाव निहित हैं ।

इससे स्पष्ट है कि गुजरात के कवियों ने नारी की निंदा की है, परन्तु इस निन्दा में नारी के उच्चतम हृदय, पवित्रतम विचार, पवित्र देवीरुप एवं स्नेह वात्सल्ययुक्त मातृरुप की निंदा नहीं की है । कामुक, भकितहीना, कामिनी, व्याभिचारिणी, कुलटा नारी की निंदा की है । ऐसी नारिओं की निन्दा करने का उद्देश्य सुसज्य समाज की स्थापना करने का था । जिसमें वें अंशतः सफल भी हुए ।

उपर्युक्त विवरण में मध्यकालीन कवियों ने नारी को ज्ञान, भकित, बुद्धि-विवेक, सुखशांति एवं स्वास्थ्य आदि की हर्ता, नागिन, विष-फल, नरक का कुंड, निर्लज्ज, अग्नि की ज्वाला आदि कहा है, और इस प्रकार के स्वभाव वाली स्त्रियों से बचकर रहने का निर्देश किया है । नारी-विषयक उनकी ये उकितयाँ परिमाण में अधिक होने के कारण विद्वानों की एक धारणा

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागरपृ. 149
2. वही - पृ. 149

यह देखी जाती है कि - स्त्री जाति को इन संतो द्वारा हानि पहुँचती है।[1] या यह कि सुख-साधन की सामग्री के रुप में स्त्री को देखनेवाला मध्ययुग स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने में असमर्थ है।[2] किन्तु तथ्य यह है कि जितनी कटु निन्दा इन कवियों ने स्त्रियों की (असत् नारी) की है उतनी ही कामी पुरुषों की भी की है-

कामी से कुत्ता भला, वरस दिने एक मास।
कहे प्रीतम कामी करे, निशदिन विषय विलास॥ [3]

सन्त दादू ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति के लिए स्त्री-पुरुष दोनों को चेताया है -

नारी पीवै पुरिष कौं, पुरिष नारि कूं षाई।
दादू गुर के ग्यांन विन, दुन्यूं गए बिलाइ॥[4]

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि नारी का महत्व उन्हें अस्वीकृत था या उनके प्रति कोई द्वेष भाव उनमें था। तदुपरान्त यह कि उनकी रचनाओं में नारी की एकमात्र निन्दा ही सबकुछ नहीं है, उसके जीवन के अन्य पहलुओं का भी उद्घाटन हुआ है। अतः यहाँ डॉ. मदनगोपाल गुप्त जी का कथन ध्यातव्य है कि, "नारी-निन्दा के माध्यम से सन्तों ने नारी के प्रति अतिशय आसक्ति का जो विरोध किया है वह - भारतीय संस्कृति की भावना से ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक जीवन को सुखी तथा संतुलित रखनेवाले सर्वव्यापक तथ्य के रुप में भी स्वीकार किया जा सकता है।"[5] प्रीतमदास के इस पद से भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्रायः सन्तों ने नारी की नहीं, उसके अवगुणों की निन्दा की है, यह परम्परा के निर्वाह के रुप में ही कहा गया है-

नारी कूं निंदू नहीं, निंदूं अवगुण एक।
कहे प्रीतम कहेते गए, आगे पुरुष अनेक। [6]

पहले भी लोगों ने कहा है अर्थात् यह सामान्य रुप से अनुभवसिद्ध तथ्य है।

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डॉ. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल - पृ.305
2. तिरुवल्लुर एवं कबीर के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. रविन्द्रकुमार सेठ, पृ. 195
3. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, प्रीतमदास, पद संख्या-11
4. दादू दयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी - माया को अंग-164
5. मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ. 201
6. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, प्रीतमदास, पद संख्या-12

सत्नारी - पतिव्रता नारी : प्रायः सभी कवियों ने जहाँ एक ओर नारी के भोगमय एवं वासनाजन्य स्वरुप की आलोचना की है, वहीं दूसरी ओर उसके कल्याणकारी स्वरुप की प्रशंसा भी की है, क्योंकि भारतीय धर्म और समाज में नारी मर्यादा सदा से उत्कृष्ट मानी जाती रही है। हिन्दू धर्म और संस्कृति में नारी की आदर भावना वर्तमान है। गुजरात के कवियों ने नारी के पतिव्रता, उच्चादर्श, त्याग, गौरव आदि गुणों का अभिनन्दन किया है। उसके कल्याणकारी रुप की प्रशंसा की है। पतिव्रता नारी के संयमशील एवं सदाचारों पर चलने की इन्होंने सदैव हिमायत की है, क्योंकि पतिव्रता की गरिमा, रुप सौंदर्यशील की ज्योत्सना और चरित्र की महिमा नारी के जीवन को सार्थक बनाती है -

साचो व्रेह ब्रजनार को, छोड़ चली परिवार ।
कहे प्रीतम पियाकूं मिलि, गावत गुण संसार ॥[1]

अखा के मतानुसार पतिव्रता वही है, जो सदा सत्य बोलती है, और अपने पति की सेवा में लीन रहती है। नारी का एक ही परम धर्म होता है-पतिसेवा -

साच सती और निज भकत दोनुं की एक टेक ।
तन मन कुं पहेलुं दिया अब को करे विवेक ॥[2]

प्रीतमदास का विचार है कि, पति की सेवा करना, दूसरे की आशा नहीं करनेवाली नारी ही पति की सच्ची प्रियतमा होती है-

पतिव्रता पतिकूं भजे, नहीं अवरनी आश ।
कहे प्रीतम रंगे रमे, प्रेम पीया के पास ॥[3]

अखा ने नारी में चारित्रिक दृढ़ता का होना आवश्यक माना है। साज-श्रृंगार या रुप-सौन्दर्य से नहीं, अपितु पतिव्रत धर्म का पालन कर वह पति का हृदय जीत सकती है-

शृंगार सती का और हे कुमकुम काजर नाहे।
कुमकुम काजर हो न हो प्रीतम प्रेम मीलाये॥[4]

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर - प्रीतमदास, पद संख्या-9
2. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह - भोली भकती अंग -22
3. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, डॉ. अम्बाशंकर नागर, प्रीतमदास, पद संख्या-8
4. अक्षयरस, डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह, भोली भकती अंग-21

पर पुरुष रता नारी की निंदा करने वाले संत कवि दादू भी पति के प्रति निष्ठावान नारी को अद्वितीय मानते हैं-

यहु ब्रत सुंदरि ले रहै, तौ सदा सुहागणि होइ।

दादू भावे पीव कूं, ता सनि और न कोई।। [1]

वे भी अन्य सन्त कवि जैसी ही धारणा रखते हुए स्पष्ट मानते हैं कि नारी का रुप नहीं, उसकी सेवा-भावना तथा आज्ञापालन की चेतना उसे गुरुता-महत्ता प्रदान करती है -

दादू पतिबरता गृह आपणैं, करै षसम की सेव ।

ज्यूं राषै त्यूं ही रहै, आग्याकारी टेव ।। [2]

X X X X X X

दादू नीच ऊंच कुल सुंदरी, सेवा सारी होइ ।

सोई सुहागनि कीजिए, रुप न पीजै धोइ ।।[3]

कहने का तात्पर्य है कि पति का ध्यान एवं नाम पत्नी के मन से कभी विस्मृत नहीं होता। वह अपनी इस साधना में दृढ-प्रतिज्ञ रहती है। इसीलिए दादू ने सौंदर्यशाली स्त्री से मर्यादायुक्त नारी को अधिक महत्व दिया है। वह समाज में सम्मान की अधिकारिणी है।

अखा का भी ऐसा मानना है कि कुल की लाज रखनेवाली स्त्री जो अपने पति की सेवा करती है, इज्जत के खातिर आगे चलकर त्याग करने में चूकती नहीं-

कुलवंती तब पहेलाँ त्यागे,

पीछे करणा, सो करे आगे।।[4]

ऐसी निर्मल नारी कभी भी अपने प्रिय से दूर नहीं रहती, उसीकी बनकर रहती है-

ऐसी जे को निर्मल नारी, एकुं सेज सदा सुखकारी,

पल भी पियुथें न रहे न्यारी।[5]

X X X X X X

सती सोहागन है सदा जिन्ह जान्या पियु संग।[6]

---

1. दादू दयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, निह क्रमी पतिव्रता को अंग-30
2. वही - निह क्रमी पतिव्रता को अंग-33
3. वही - निह क्रमी पतिव्रता को अंग-34
4. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह - जकडी-28
5. वही - जकड़ी-28
6. वही - सती को अंग - 5

सन्त कवि रविसाहब ने पतिव्रता नारी को पदमणी की उपमा देते हुए अपने पति के लिए कुछ भी त्याग करने वाली बताया है तथा त्याग एवं बलिदान की प्रतिमा के रुप में उसका वर्णन किया है -

पतिव्रता नार होय पदमणी, सोय जाणे पियुकी खांतु।

टूट पड़े मर धरणी आकाश, सूकाई जाय समंदर सातुं।।[1]

पतिव्रता नारी की सराहना करते हुए जीवणदास कहते हैं पतिव्रता स्त्री सदा पति का साथ देती है। पति की सेवा में सदा रत रहती है -

पियु रत जाणी नहीं जीवणा। ओर कहावे सोहागण नाम।[2]

वह पतिव्रता नारी का बखान करते हुए कहते हैं कि पति की सेवा चाकरी करना वह अपना सौभाग्य समझती है। वह पति को परमात्मा मानती है और जिस प्रकार सीता ने कभी भी राम का संग नहीं छोड़ा उसी प्रकार पतिव्रता कभी अपने पति का संग नहीं छोड़ती। ऐसी पतिव्रता स्त्री पति की अनुगामिनी बनकर उसके प्रत्येक कष्ट को झेलती है। ऐसी स्त्री की बलिहारी लेने के लिए जीवणदास तत्पर हैं-

पतिव्रता जो मिले जीवणा, में रहु जाकी लुहार।

लक्ष्मण सहित संग जानकी, सदा उनकी अनुहार।।[3]

जीवणदास पतिव्रता नारी को अपना आदर्श मानते हैं। योगियों में शून्य के प्रति जो तन्मयता देखी जाती है, वही तन्मयता आदर्श नारी की पति के प्रति होती है-

पतिव्रता पर जीवणा, में वारु तन मन प्राण।[4]

जीवणदास के काव्य में नारी दया, प्रेम, स्नेह, परोपकार, जीवसेवा, संयम और मानवीय आदर्शों की खान के रुप में वर्णित है, जो धर्म पथ पर कर्तव्य का पालन करती हुई मानव जीवन को सुखपूर्ण बनाती हुई मानवीय गुणों की पवित्र प्रतिमा बन जाती है। ऐसी पतिव्रता नारी भले ही अस्वच्छ हो, काली हो, कदरुपी हो, अपनी सब सखियों के मध्य छिन्न वस्त्र और आभूषण विहीन

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, रविसाहब, पद संख्या-17
2. वही - पृ. 133
3. वही - पृ. 133
4. वही - पृ. 135

अवस्था में भी उघडन में शशी की तरह शोभायमान है। वस्त्र और आभूषण का मोह स्त्री को नहीं रखना चाहिये। भौतिक वस्तुओं के मोह में पड़कर नारी नर्कगामी बन सकती है। अतः उसे सच्ची राह दिखाने के लिए जीवणदास ने उसके गुणों को अधिक महत्व दिया है -

पतिव्रता मेली भली। काली कुचील कुरुप।
पतिव्रता पर जीवणा। वारुं कोटी स्वरुप॥
XXXXX
पतिव्रता फाटे लुगड़े। कंठ न घाली पोत।
सब सखियन मा जीवणा। जम उघड़न में शशी जोत॥ [1]

'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने नारी के गुणों का वर्णन किया है। नारी एक रत्न है और उसी में से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। नारी ही इस संसार में सुखदायक है। पत्नीरुप में पति की सेवा करनेवाली स्त्री को त्याग की मूर्ति कहा है-

नारी नौतम रत्न है, नारी तें सब होय ।
नार बिना यह विश्व में, सुखदायक नहीं कोय ॥[2]
XXXXX
आवत विलोकी नाथ, उठि चलि आगें पुनि,.....
..... आछे रचि अन्न करे, पतिकों प्रसन्न हे।[3]

पारिवारिक संबंधों की आधारभूमि बताते हुए नारी को पत्नी के रुप में सास, श्वसुर की नम्रता से सेवा करनेवाली, मित्रों के साथ विनम्र, आश्रितों पर दयाभाव, स्वजनों को प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त बताया है-

सास और ससूर जुकों, नम्रता से नेह करी,.....
..... आप कैसें, भूल में भ्रमाइकें॥[4]

इस पृथ्वी पर स्त्री की महत्ता दर्शाते हुए कवि लिखते हैं कि एक पुरुष स्त्री के बिना जीवन की राह में लुंजपुंज है। स्त्री ही पुरुष को पूर्ण पुरुष बनाती है। संसार इसी से चलता है-

सोहत है यह आलममांय, ... कल्पलता सम भव में भाय।[5]

---

1. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी - डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. 134
2. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री-लहर-78/31
3. वही - लहर-78/52
4. वही - 78/37
5. वही - लहर-78/44

आलोच्यकाल के कवियों ने नारी के शक्तिरुप का भी उद्घाटन किया है। नारी को अनुपम बताते हुए उसे साक्षात् शक्ति स्वरुपा घोषित किया है -

याते यह जाने हमें, योषा एक अनूप ।

नहि निदंन के योग्य हे, शामा शक्ति सरुप ।।[1]

गुजराती में नारी तुं नारायणी उक्ति से नारी को शक्ति स्वरुपा मानने की बात चरितार्थ होती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुजरात के कवियों ने पतिव्रता के प्रेम को मधुर दाम्पत्य के आधाररुप में उल्लेखित किया है। उसे सुखसमृद्धि का व्यंजक कहा है। उन्होंने पत्नी के लिए पतिव्रता से बढ़कर कोई धर्म नहीं माना। पत्नी के लिए पति ही परमात्मा है, सब कुछ है। धर्म, कर्म, नियम, तपस्या जो पत्नी इनका पालन करती है, वह परमगति को प्राप्त करती है। नारी के पतिव्रता रुप का पूर्ण चित्रण करके उन्होंने नारी के महत् और आदर्श भाव को स्पष्ट किया है। पतिव्रता धर्म का पालन ईश्वर की आराधना से कम महत्व नहीं रखता। अतः कवियों ने इसी भाव को अधिक महत्व दिया है-

ii) सामाजिक प्रथाएँ :

(1) **सती प्रथा :** सती प्रथा का प्रचलन भारतवर्ष में प्राचीन काल से था। हिन्दू स्त्री की सबसे बड़ी विपत्ति उसके पति की मृत्यु थी। मध्यकाल में निम्न वर्ग के लोगों को छोड़कर हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। विधवा को अपने पति के मृत शरीर के साथ जलना पड़ता था। 'अल्बरुनी' लिखता है कि विधवाएँ या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती या अग्नि में जल जाती हैं। राजाओं की स्त्रियाँ यदि वे वृद्ध न हों तो अग्नि में जल जाती हैं।[2]

मध्यकालीन सामाजिक जीवन में सतीप्रथा के साथ-साथ उसके प्रति सम्मान की भावना समकालीन जनजीवन में वर्तमान थी। सती के सतीत्व का उपयोग संभवतः इसी कारण इन कवियों ने साधनागत आदर्श के लिए भी कर लिया है। अखा ने इसी रुप में साज-श्रृंगार करके सतीत्व ग्रहण करने जाती हुई स्त्री का उल्लेख किया है-

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-78/60
2. अल्बरुनीज़ इण्डिया - डॉ. एडवर्ड सचाऊ, चैप्टर - LXIX, पृ. 155

जलने को जुवती चली, साज सती को साज।

तब असन बसन कु उर धरै तो अखा होय अकाज ॥[1]

सन्त कवि दादू ने भी सती के सत्व और निश्चल मन की बात कही है-

सती सत्तगति साचा बोले, मन निहचल कहे न डोले।

वाकै सोच पोच जिय न आवे, जन देखन आ जल जावे॥[2]

उन्होंने सती की सम्प्रभुता, पवित्रता एवं समर्पण भाव को स्वीकार करते हुए इसका समर्थन किया है-

दादू सती जलि कोइला भई, मुए मड़े की नार ।

यौं जे जलती राम सौं, साचे संगि भरतार ॥[3]

'प्रवीणसागर' में ग्रंथकार ने सती स्त्री को अपने स्वामीप्रेम में अपने शरीर को अग्निचिता में स्वामी के शव के साथ भस्म करते बताकर सती की प्रीति का बखान किया है-

सती श्याम के प्रेम, अंग अगनी में जारे,.... [4]

वस्तुतः सदाचार और एकनिष्ठ प्रेम के समर्थक इन कवियों ने उसका विरोध न करके उसे प्रशंसनीय माना है। 'कारा डुंगर कच्छजा' के लेखक ने कहा है कि "कच्छ के महाराव लखपतिसिंहजी के साथ उनकी चिता मे उनकी रानियों में से कोई भी सती नहीं हुई थी, उन्होंने जिन नृत्यांगनाओं और रखैलों को आश्रय दिया था, उनके लखपतिसिंहजी के साथ चिता में जलने के उल्लेख रामसिंह मालम के निर्देश से बनाई गई छतरड़ी में मिलते हैं।[5] अन्य उल्लेखों में ई.स. 1837 में मिसेज पोस्टन्स ने कच्छ की यात्रा की थी तब सतीप्रथा के रिवाज का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह प्रथा समाज में बहुत गहरी उतर गई थी। और स्त्रियों को सती होने से रोकना बहुत मुश्किल काम था। खुद महाराजा भी इसमें कुछ करने में अशक्त थे।"[6]

---

1. अक्षय रस - संपा. डॉ. कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह - भरोसा अंग-10
2. सन्त सुधा सार - संपा. वियोगी हरि - स्वांमी दादूदयाल - पद-23
3. दादूदयाल ग्रंथावली - संपा. परशुराम चतुर्वेदी, सूरातन को अंग-10
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-47/7
5. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ. 145
6. वही - पृ. 222

(2) पर्दा-प्रथाः मध्यकाल में सतीप्रथा, दहेजप्रथा, बालविवाह आदि प्रचलित प्रथाओं में पर्दाप्रथा भी एक थी। पर्दा-प्रथा धनी और समृद्धशाली (राजन्य) परिवार तक ही सीमित थी।[1] निर्धन स्त्रियाँ, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में रहनेवाली, खेतों में काम करनेवाली स्त्रियाँ आर्थिक कारणों से पर्दा धारण करने में असमर्थ थीं।[2]

भारतीय परम्परा में पर्दा-प्रथा मर्यादा का प्रतीक है और भारतीय नारी प्राचीन काल से इसका अनुपालन करती आयी है। एस.एम. जाफर के अनुसार पर्दा को हिन्दू स्त्रियों के लिए धार्मिक कर्तव्य कहा गया है। इसके लिए उन्होंने रामायण और महाभारत से सीता और द्रौपदी का उदाहरण दिया है। धार्मिक ग्रंथों से उदाहरण देते हुए उन्होंने समझाने का प्रयास किया है कि पर्दा त्यागना हिन्दू समाज में निन्दनीय समझा जाता था (ब्रह्मपुराण - अध्याय-32, श्लोक-39)। आज भी भारत में विशेषकर राजस्थान और उत्तरप्रदेश तथा सौराष्ट्र के क्षत्रियों की स्त्रियाँ घुंघट निकालती हैं, तथा कई मुस्लिम वर्गों में पर्दा (बुरखा) की प्रथा आज भी मौजुद है।[3]

मध्यकाल में इशका प्रचलन और भी बढ़ गया था, जिसके लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ जवाबदार थी। मध्यकाल में मुस्लिमों के आक्रमण से और शासन से हिन्दू समाज में भय के कारण इसका प्रचलन बढ़ गया होगा। बालविवाह जैसी प्रथाएँ भी इसी के कारण व्याप्त थीं।

गुजरात के मध्यकालीन कवियों के वर्णनानुसार उच्च वर्ग की स्त्रियों में इसका अधिक प्रचलन मिलता है। 'प्रवीणसागर' में किए गये उल्लेख के अनुसार राजपरिवार के सदस्य विशेषकर स्त्रियाँ जनता के संसर्ग से दूर ही रहा करती थीं, क्योंकि उनको पर्दे में ही रहना पड़ता था। राजपरिवार की स्त्रियाँ जब जन-स्थानों पर जाया करती थीं तब पर्दे और पहरे में ही रहा करती थीं-

ईश देहरी आय, गिरद कीने पहिरायत।
उतरे राज जनात, लगी दोहरि सु किनायत। [4]

---

1. सोसायटी एण्ड कल्चर इन मुघल एज - पी.एन. चोपड़ा, पृ. 104
2. सम आस्पैक्ट्स ऑफ़ दि मॉडर्न इण्डियन सोशियल लाइफ - पी.एन. ओज़ा, पृ. 37
3. सम कल्चरल आस्पैक्ट्स ऑफ़ मुस्लिम रुल इन इण्डिया, पृ. 198-99
4. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री, लहर-37/15

इसी कारण से राजपरिवार की स्त्रियाँ खुले रुप से किसी बाहरी व्यक्ति से नहीं मिल सकतीं थीं। रससागर को कलाप्रवीण से मिलने के लिए योगी का रुप धारण कर गुप्त द्वार से मंदिर में प्रवेश करना पडा था।[1] देवमंदिर, बाग-बगीचे और सरोवरों आदि जनस्थानों पर स्त्रियाँ आरक्षित कनातों में ठहरतीं थी-

दोहरी लगी किनात, मट्टू मिली मंजन आई।

तीरथ तीर सुजायं, गिरद पहेरात कराई।[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में खासकर राजपूतों में पर्दा-प्रथा बड़ी कड़ी थी। और राजपरिवार की स्त्रियाँ अपने रनिवास में तो सख्त पहरे में रहा ही करती थीं परन्तु रनिवास से बाहर निकलने पर पर्दा और पहरा और भी सख्त हो जाया करता था।

मध्यकालीन सन्त कवि दादू ने भी रुपक के माध्यम से प्रभु को प्राप्त करने के लिए भरम के पर्दे को हटाना जरुरी बताया है-

दादू जा कारण जग ढूँढिया, सो घट ही माँहि।

मैं तैं पड़दा भरम का, ताथै जानत नाहिं ॥[3]

'कारा डुंगर कच्छजा' में भी मेकमर्डो के कहने के अनुसार अच्छे खानदान की राजपूत स्त्रियाँ पड़दानशीन रहने से उसे उनकी जनगणना में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।[4]

(3) बहु विवाह प्रथा : हिन्दू कोड बिल के अस्तित्व में आने के पूर्व बहुत प्राचीन समय से इस देश में बहुविवाह प्रथा प्रचलित रही है और क्योंकि यहाँ विवाह केवल स्त्री को उपभोग का माध्यम मानकर ही किया जाता रहा है। राजाओं में बहुविवाह प्रथा जो उनके विलासी जीवन का अंग थी, 'प्रवीणसागर' में इसका एकाधिक बार वर्णन हुआ है। तत्कालीन राजाओं को पत्निओं के साथ-साथ अनेक रखैलें भी होती थीं-

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-37/6
2. वही - लहर-53/13
3. सन्त-सुधा सार - संपा.वियोग हरि (स्वामी दादूदयाल), पृ. 492
4. कारा डुंगर कच्छजा - अनुवाद : वसंतराय पट्टणी, पृ. 201

नर इन्द्र सोर उदवाहि नाकु, रनि पासवानि नृत की अपार ।[1]

इन रानियों, रखैलों और गायिकाओं के अतिरिक्त असंख्य दासियाँ भी रखी जाती थीं।[2] 'प्रवीणसागर' में राजा नीतिपाल की सोलह रानियाँ होना वर्णित किया गया है।[3]

बहुविवाह प्रथा में जहाँ एक ओर राजाओं की रानियों को सभी प्रकार के भोगविलास के साधन प्राप्त थे वहीं दूसरी ओर उन्हें यातना भी भुगतनी पड़ती थी। सिर्फ एक पुरुष के मर जाने से उसके पीछे कितनी ही स्त्रियों को विधवा की जींदगी गुजारनी पड़ती थी तो कुछ सती धर्म का पालन करके अपने प्राणों का बलिदान देती थीं।

(4) **दहेज प्रथा** : विवाह के साथ-साथ कन्या को दहेज देने की परंपरा प्राचीन काल से चलती चली आ रही है। पौराणिक ग्रंथों में भी धन-संपत्ति, वस्त्राभूषण आदि का दहेज रुप में देने का उल्लेख है। अष्टछाप के कवि कृष्णदास ने वृषभानु द्वारा राधा को दहेज देने का वर्णन किया है-

गोपनि के गोधन अति निकी दीन्ही है लख चार ।
झूमरि झूम झूल मखतूलनि प्यारी धौरी धेनु सिंगार ।।[4]

इसमें कृष्णदास ने वस्त्राभूषण से सुसज्जित गायों के दान का उल्लेख किया है। राजपरिवार या उच्चवर्ग के लोगों द्वारा अपनी पुत्री को हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, सोने, चांदी के आभूषणों और किंमती वस्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मण, कारभारी और अनेक दासियाँ आदि व्यक्ति भी दहेज रुप मे देते थे-

हय गय फंदन, शिविक, शकट कुंदन सु रजत भर ।
महत रत्न मणि मुक्त, जटित भूषण सुवसनजर ।।
दुहिता अमाति दुज कधि दिये, पारीबरह अपार किय।
इक द्वै मुकाम निज संग चलि, वर बरात विद्या सुदिय ।।[5]

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-23/2
2. वही - लहर-16/3
3. वही - लहर-14/13
4. कृष्णदास - संपा. ब्रजभूषण शर्मा, पद सं. 895
5. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर - 16/6

अन्य वर्णन : जहाँ तक स्त्री शिक्षा का प्रश्न है, मध्यकाल में हिन्दू समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा गिर गई थी। पर्दा प्रथा और बाल विवाह[1] के कारण उनकी स्वतंत्रता सीमित हो गई। इसलिए उन्हें अधिक शिक्षा न मिल सकना स्वाभाविक है, किन्तु राजपरिवार तथा उच्च घराने में कन्याओं को शिक्षा देने का रिवाज था, इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। राजपरिवार की स्त्रियाँ प्रायः सुशिक्षित हुआ करती थीं। इनकी शिक्षा के लिए पंडित रखा जाता था, जो इन्हें नीति, धर्म और व्रतनिधि के साथ-साथ साहित्य की सामान्य जानकारी भी कराता था। इसके अतिरिक्त संगीत और नृत्य की शिक्षा का प्रबंध भी किया जाता था। शिक्षा का प्रारंभ सात वर्ष की आयु से हो जाता था-

तब कछू समझी नृप जान, दीन्हों पढ़न को फरमान।
लागे गुरु पढ़ावन हेत, मुख से बरन विकसे लेत॥
व्रतविधि संग्रती अभिधान, काव्य सु नीति शास्त्र सुबान।
साहित जातकं संगीत, श्रुति पढ़ि कोक जानी रीत॥
संग सहेली सब पढ़ी, कुसुमावलि तिहि साथ।
को न प्रवीण प्रबीन सी, काव्य करने समराथ॥[2]

अखा की एक उक्ति में विरहिन द्वारा पत्र पढ़े जाने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि लड़कियों के लिए प्रारंभिक शिक्षा की न्यूनाधिक व्यवस्था अवश्य थी, किन्तु इतना भी सत्य है कि यह व्यवस्था अपर्याप्त होने से सर्व-सुलभ न थी-

कंथ विछोही कागद बाँचे! बचन सुणे और मनमें राजे।[3]

स्त्रियों के द्वारा मदिरापान भी किया जाता था। यह प्रवृत्ति राजपरिवार और उससे जुड़े लोगों में अधिक थी। 'प्रवीणसागर' में ब्राह्मण वर्ग की स्त्रियों में भी आसव के स्थान पर विजया (भंग) और इससे बनी हुई मिठाइयों के सेवन का प्रचलन था। कलाप्रवीण अपनी सखी कुसुमावलि को, जो एक ब्राह्मण-पुत्री थी, प्रसन्न होने पर माजूम खिलाती है, स्वयं आसव पान करती है-

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-11/19, 15/1
2. वही - लहर-7/13,14
3. अक्षयरस - संपा. डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, जकड़ी-31

प्रवीण सु माजुम लीन मंगाय, लियो निज ब्रह्मनि को जु लिवाय॥
दुजो मंगवाई आसव बोलि, लयो कर किंकरि कुंभ सु खोलि।
सुता नृप पात्र दिखाए सु वंच, उभैं भइ आनन मादिक रंच॥[1]

एक अन्य वर्णन में रससागर और शशिकला के द्वारा आसवपान किये जाने का दृष्टान्त मिलता है-

मिलि दंपति मनुहार, प्यार करि अति मद पावत।
XXXXX
हिलव कुभ भरि पात्र, सबें अचवत आसव रस॥
XXXXX
कादंबरि अचवंत, बड़े उच्छाह विराजे ॥[2]

अखा ने भी मादक वस्तुओं के सेवन का जिक्र किया है-

ज्युं मादक भखते भ्रम भया, परवश आप गमाया॥ [3]

वस्तुतः मद्यपान का प्रचलन राजन्य संस्कृति के प्रभाव स्वरुप था, जिससे उससे जुड़े हुए लोगों में मद्यपान का प्रचलन मिलना स्वाभाविक ही है।

---

1. प्रवीणसागर - संपा. गणपतिशंकर शास्त्री - लहर-26/10
2. वही - लहर-16/20,18/8,19/4
3. अक्षयरस - डॉ. कुँअरचन्द्र प्रकाशसिंह, अथ फोम को अंग-12

निष्कर्ष :

तत्कालीन समाज के बारे में मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में कि गये विवरण से ज्ञात होता है कि समाज स्थूलतः परम्परागत चार वर्णो में ही संगठित था, और इन वर्णों के कर्तव्य-कर्मों में भी परम्परागत कर्तव्यों को ही प्रधानता थी। वर्ण शब्द का अर्थापकर्ष अवश्य हो गया था, जिसमें उसे कई उपसमूहों में बाँटा गया था, तथा शूद्रों की परम्परागत अठारह श्रेणियाँ भी वर्ण की संज्ञा से जानी जाती थीं। मध्यकाल के अधिकांश कवियों ने जाति-विभाजन का खण्डन किया है, और भेदभाव मिटाने की बात कही है। उनका मानना था कि केवल उच्च कुल में जन्म लेने से मनुष्य उँचा नही बन जाता, इसके लिए ज्ञान परमावश्यक है। उन्होंने सबको समान माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने भेदभाव की संकीर्ण दीवारों से लोगों को बाहर आने का आह्वान करते हुए, मानवतावाद का संदेश दिया।

सामाजिक दृष्टि से हम ब्राह्मणों को मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित पाते हैं। उनके लिए प्रयुक्त किए गए विप्र, द्विज, दुज, भूदेव जैसी आदरास्पद संज्ञाओं में संदर्भगत प्रवृत्ति ही झलक रही है। मध्यकालीन कवियों के वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सात्विक होता था, वे धार्मिक क्रियाकर्म के साथ-साथ विद्या-अभ्यास प्रदान करने से लेकर पूजा-पाठ के कार्य करते थे। ब्राह्मणों की सामाजिक महत्ता इतनी थी कि उन्हें देवता तक माना जाता था। कुछेक ब्राह्मण अति समृद्ध थे, जो वैभव युक्त जीवन जीते थे। मध्यकालीन कवियों ने जहाँ ब्राह्मणों के सात्विक जीवन की सराहना की है, वहीं ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ और हित के लिए समाज में जो भेदभाव की नीति को अपना रखा था, इसका विरोध किया है।

क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत समुन्नत थी। उनके लिए प्रयुक्त राजपूत, राऊ, महाराउ, ठाकुर आदि अभिधानों के प्रचलन में उनका शासन-व्यवस्था के संचालन से घनिष्ट सम्बन्ध का सूचक है। उनका सम्बन्ध सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राज-कुलों से जोड़ा गया है। छत्तीस प्रकार के क्षत्रिय का उलेलख उनकी विविध जातियों के संदर्भ में किया गया होगा। शरीराकृति से वे हृष्ट-पुष्ट काया के थे। शासन संचालन से सम्बन्धित होने के कारण वे शस्त्रादि चलाने

की विधिवत शिक्षा भी ग्रहण करते थे। शस्त्र संचालन मे नैपुण्य पाने को अधिक महत्व दिया जाता था, किन्तु साथ-साथ वे विविध शास्त्रों एवं कलाओं की शिक्षा भी प्राप्त करते थे। उनके प्रमुख कर्तव्य कर्म में, ब्राह्मणों और गरीबों की रक्षा करना, विविध कलाओं के ज्ञाताओं को आश्रय देना आदि था, किन्तु वे सबसे ज्यादा व्यस्त युद्धों में रहते थे। अपनी राज्य सीमा को बढ़ाना ही वे अपना प्रमुख कार्य समझते थे। कुल की लाज मर्यादा का मान बना रहे, इसका ध्यान उन्हें सदैव बना रहता था। मध्यकाल में क्षत्रियों की सामाजिक महत्ता में कमी जरुर हुई थी। वे कर्तव्यच्यूत होकर भोग-विलास में अधिक समय व्यतीत करते थे। विलासिता एवं आमोद-प्रमोद की कोई सीमा नहीं थी। भोगविलास में रत रहने से वे राज्य-संचालन की ओर सही ध्यान नहीं रख पाते थे, जिससे सत्ता की डोर अयोग्य लोगों के हाथों में चली जाती थी। मध्यकाल के अशांतिपूर्ण वातावरण के लिए यही सब कारण थे।

वैश्य का प्रमुख कार्य व्यापार था, वे स्वभावतः भीरु थे, किन्तु व्यापार कार्य और पैसे का लेनदेन उनके हाथ में होने से उनकी सामाजिक महत्ता बढ़ गयी थी। राजपरिवार से उनके अच्छे सम्बन्ध होते थे। व्यापार के साथ-साथ राजतंत्र में दिवान जैसे महत्व के पद भी उन्हें प्राप्त होते थे, और वे अपने कार्य को बड़ी कुशलता से निभाते थे।

शूद्र-वर्ग जातिगत व्यवसायों के आधार पर अनेक उपजातियों में विभक्त था। उनका प्रमुख कार्य त्रिवर्ण की सेवा करना ही माना जाता था, किन्तु सन्तों के उपदेश और वर्तन के द्वारा शूद्रों की तत्कालीन सामाजिक स्थिति में थोड़ा बहुत परिवर्तन जरुर आया था, और वर्ण-व्यवस्था का पालन इतनी कठोरता से नहीं किया जाता था जितना प्राचीनकाल में होता था. मध्यकाल में अधिकांश सन्त भी इन्हीं जातियों से संबंधित थे।

भाट और चारणों को भी तत्कालीन समाज में काफी मान-सम्मान प्राप्त था। ब्राह्मणों की तरह ही उन्हें भी आदर-सत्कार मिलता था। राज-परिवार से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। प्रशस्तिगायन करना उनका प्रमुख कार्य था। उनको कई विषयों के ज्ञाता बताया गया है, जिससे

तत्कालीन समय में वे कितने प्रतिभा संपन्न होंगे उसका पता लगता है।

चतुराश्रम व्यवस्था का न तो पूर्णतया अनुपालन किया जाता था, और न उसके आश्रमों के विहित काल का ही ध्यान रखा जाता था। क्षत्रिय कुमार शिक्षार्जन के लिए गुरुकुलों में जाते थे, इसका भी उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। गृहस्थाश्रम का वर्णन मिलता है, किन्तु किसी भी कवि ने उसे आश्रम की संज्ञा नहीं दी है, व्यावहारिक रुप में भी उसका वर्णन किया गया है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के अनुपालन का भी उल्लेख नहीं मिलता, जिससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि मध्यकाल में यह व्यवस्था प्रचलित नहीं थी।

गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में खान-पान और वस्त्राभूषणों पर प्रकाश डालने वाले निर्देश यद्यपि समाज के उच्चवर्ग से अधिक सम्बद्ध हैं, तथापि यह अनुमान करना अनुपयुक्त नहीं है कि समाज का मध्यवर्ग भी अनुकरण के रुप में सामान्यतः इन उपादानों का प्रयोग करता होगा।

आलोच्यकाल में राजपरिवार और उच्चवर्गीय क्षत्रियों में सर्वाधिक प्रचलित खाद्य-पदार्थों में सामिष भोजन विशेष प्रचलित था। मुसलमान समाज में इसका विशेष प्रचलन था। मांसाहार के व्यापक प्रचलन के कारण ही तत्कालीन सन्त कवियों ने अपने काव्य के अन्तर्गत इसका विरोध करते हुए मांसाहारीयों की कड़ी आलोचना की है। जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने जीवहिंसा न करने और निरामिष सात्विक भोजन लेने का उपदेश दिया है। निरामिष भोजन के अन्तर्गत वर्णित किए गये विविध पकवानों, मिष्ठानों से स्पष्ट पता चलता है कि वर्तमान समय की तरह मध्यकाल में भी ज्यों के त्यों प्रचलित थे। अन्य उल्लेखों में मुख-श्वास को सुवासित रखने के लिए भोजन के उपरांत ताम्बूल भी अनिवार्यतः ग्रहण किए जाते थे।

पेय-पदार्थों में सुरा-पान का प्रसार छोटे से लेकर बड़े तक, पुरुषों से लेकर स्त्रियों तक और कुछ अंश तक ब्राह्मण वर्ग में भी सुरा से मिलता-जुलता मादक द्रव्य लेने का प्रचलन था,

जिसका पान विविध अवसरों पर किया जाता था। राजपूतों में अफीम के प्रचलन का अधिक्य था। अन्य पेय-पदार्थों में विविध प्रकार के शरबतों का उल्लेख हुआ है।

वर्तमान समय में वस्त्र परिधान के अन्तर्गत पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रुप से देखा जा सकता है, जबकि आलोच्यकाल में इससे बिलकुल विपरित भारतीय वस्त्रों का प्रचलन था। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरुप विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का उत्पादन होने लगा था। इसमें गुजरात सबसे आगे था। पुरुष लोग सिर पर पगड़ी बाँधा करते थे। ऊर्ध्वांग के वस्त्रों में जामा तथा कुर्ता पहना जाता था, एवं अधोवस्त्र के रुप में धोती और पाजामे का प्रचलन था। अन्य वस्त्रों में शरीर पर दुशाला डालने, कमर पर दुपट्टे को लपेटने का प्रचलन था। शुभ अवसरों पर प्रायः जरी-रेशम के रत्न लगे वस्त्रों को पहना जाता था।

स्त्रियों के प्रचलित वस्त्रों में साड़ी प्रमुख थी, जो आज भी भारतीय नारी का श्रेष्ठ परिधान वस्त्र है। अन्य वस्त्रों में ऊर्ध्वांग के अन्तर्गत कंचुकी, चोली तथा अधोवस्त्र के रुप में लहंगा, सूथनी आदि का प्रचलन था।

ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र में कंबल, कामरी, गुदड़ी, चद्दर, गलीचा, तकिये, गद्दा आदि के उल्लेख मिलते हैं।

नर और नारियों में आभरण-प्रियता पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। स्त्रियाँ अपने शिश, मस्तक, कान, नासिका, ग्रीवा, बाहु, कलाई, हाथ की उंगुलियों, कटी और पैरों आदि में अनेक प्रकार के आभूषण पहनती थीं। पुरुष भी आभूषणों के प्रयोग में स्त्रियों से पीछे नहीं थे। कान, ग्रीवा, कलाई तथा पैरों में आभूषण पहनते थे।

स्त्रियाँ अपनी पूर्ण रुप-सज्जा के लिए सोलह प्रकार के श्रृंगार करती थीं। स्नान से पूर्व उबटन करना स्नानोपरांत केशों को सुवासित करना, वेणीबंधन, माँग निकालना, अंजन करना, चिबुक पर तिल लगाना, बिंदी-तिलक रचाना, मेहंदी-महावर, गंधादि द्रव्यों का लेपन, ताम्बूल

सेवन आदि श्रृंगार के इन अंगों का चरम अभिप्रेत, सौन्दर्य में अधिकाधिक निखार लाना होता था। वर्तमान युग मे यह सभी श्रृंगार के उपादान थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ प्रचलित हैं।

दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुओं में चन्दन, कागज, लेखनी, घड़ीयन्त्र, दर्पण, इत्र, फूल, तेल, खाट आदि के उल्लेख मिलते हैं। साथ-साथ रोगोपचार में प्रयुक्त होनेवाली स्वास्थ्य ठीक रखनेवाली औषधियों को भी ग्रहण किया जाता था। कृत्रिम दांत और आँख को लगाये जाने की रीति भी विकसित थी।

मनोरंजन की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। आखेट कला का वर्णन तो अत्यधिक हुआ है। राजकुमारों में छोटी उम्र से इसका प्रचलन था। कभी किसी भी समय शिकार के लिए ये लोग चल पड़ते थे। नृत्यगान, संगीत और आखेट के सिवा राजन्य संस्कृति में विशेष कोई कार्य ही न होना फलित होता है। हम कह सकते हैं कि आखेट का प्रचलन दुषण की सीमा तक परिव्याप्त था। नटों द्वारा विविध खेल बताकर बख्शीश पाने का उल्लेख भी हुआ है , जिसमें वे लोग पेट पालने के लिए जान की बाजी लगा देते थे। इसके अतिरिक्त शतरंज, जुआ आदि का प्रचलन भी था। पतंग उड़ाना एक विशेष मनोविनोद के साधन के रुप में प्रचलित था। संतोंने परोक्ष रुप से इसके प्रचलन को चित्रित किया है। अन्य बच्चों के खेलों में गेड़ीदड़ा, खिलौने से खेलना आदि के खेल होते थे, जो बच्चों के मनोविनोद के साधन थे। अन्य मनोविनोद के साधनों में राजन्य तथा उच्च वर्ग के लोगों में नृत्यगान, संगीत, वारांगनाओं का नृत्य आदि प्रचलित थे। मन को आनंदित करने उद्यान-क्रीड़ा भी एक मनोविनोद का साधन थी।

मध्यकालीन कवियों के काव्य में स्त्री विषयक चिंतन परम्परागत रुप में ही मिलता है। उन्होंने नारी निन्दा के अन्तर्गत असत्, कामिनी, व्याभिचारिणी आदि नारियों को सामाजिक दूषण बताते हुए उससे दूर रहने का उपदेश दिया है और नारी प्रशंसा के वर्णन में नारी के सत् एवम् पतिव्रता के रुप के गुणगान गाये हैं। नारी से जुड़े अन्य वर्णनों में सती-प्रथा का प्रचलन था, उन्हें सती होने के लिए मजबूर किया जाता था, पर्दा-प्रथा का भी प्रचलन था। मुसलमानों के भय से बाल-विवाह आरंभ हो गये थे। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचलन अधिक नहीं था। केवल राजपरिवारों और उच्चवर्ग की कुछ स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त

करती थीं। स्त्री का प्रमुख कार्य घर के लोगों को प्रसन्नचित्त रखना था।

संक्षेप में कह सकते हैं कि स्त्री विषयक कोई विशेष उल्लेख का गुजरात के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में प्रायः अभाव सा है। उनकी सामान्य चर्चा ही दृष्टिगत होती है। वैचारिक व्यापकता का अभाव देखा जा सकता है। इस संदर्भ में कह सकते हैं कि मध्यकाल में अधिकांश सन्त कवि थे, जो स्त्रियों से दूर ही रहते थे। इसलिए उनके काव्य में नारी निन्दा और प्रशंसा के अतिरिक्त अन्य विषयों का उल्लेख नहीं मिलता।